



Freedom is in Perils. Defend it with all you might. Jawaharlal Nehru

‘सतलुज’ फिल्म किस तरह अपने समाज का सच सामने लाने का विमर्श तैयार करती दिख रही

पक रही है प्रतिरोध की नई तहजीब

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com



शोला शिल्प की दुनिया

मोहरों की ‘बलि’ और ढका-छुपा सच

आस्था के खजाने का ऐसा घोटाला, जिसने हिलाकर रख दी है हिन्दुत्व प्रतिष्ठान की नींव

फोटो: अहंप्रजापत्र



प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी 2024 में राम मंदिर के प्राण प्रतिष्ठा समारोह में यजमान थे



शालिनी सहाय

नवरी 2024 में श्रद्धालुओं के लिए खोले जाने के बमुश्किल ढाई साल बाद ही, अयोध्या का राम मंदिर बड़े वित्तीय घोटाले के केन्द्र में आ गया। जून 2026 में मंदिर को मिले दान में हेराफेरी के आरोप सामने आए। दो संस्थापक ट्रस्टियों ने इस्तीफा दे दिया, उत्तर प्रदेश सरकार ने एक विशेष जांच दल (एसआईटी) का गठन किया और आठ कर्मचारी गिरफ्तार किए गए। मंदिर का कामकाज संभालने के लिए एक ‘प्रोफेशनल’ सीईओ की तलाश के लिए एक सचं कमेटेी बन गई।

एसआईटी की अंतरिम रिपोर्ट अब सार्वजनिक है। इसकी मुख्य बातों में दान के प्रबंधन की कमजोर निगरानी, नाकाफी सुरक्षा व्यवस्था, तलाशी के नियमों और बिना जेब वाली यूनिफॉर्म से जुड़ी मौजूदा व्यवस्थाओं में बदलाव, पैसा-

गिनने की ऐसी प्रणाली जिसमें ट्रैक करने की सुविधा नहीं है, और अपर्याप्त निगरानी का मुद्दा शामिल हैं।

राज्य सरकार ने समय बढ़ाते हुए एसआईटी के लिए अपनी अंतिम रिपोर्ट सौंपने की तारीख 15 जुलाई तय की है, हालांकि इससे बहुत ज्यादा उम्मीदें नहीं हैं। लेकिन गड़बड़ी करने वालों के खिलाफ होती कार्रवाई जैसी दिखने वाली इस सारी गहमागहमी के बीच, कई सवाल हैं जिन पर अब भी सख्ती से पड़ताल होती नजर नहीं आती।

क्या ‘श्रीराम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र’ की ‘निजी ट्रस्ट’ होने की स्थिति इसे सार्वजनिक जांच के दायरे से बचाती है?

2019 में अयोध्या पर आए विवादित फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने केन्द्र सरकार को राम मंदिर बनाने और उसका कामकाज संभालने के लिए ट्रस्ट

ट्रस्ट बनाने की घोषणा संसद में मोदी ने की, संघ प्रमुख मोहन भागवत की मौजूदगी में ‘भूमि पूजन’ उन्होंने ही किया और मंदिर की प्राण-प्रतिष्ठा में ‘यजमान’ की भूमिका भी निभाई। इसलिए उनकी चुप्पी रहस्यमय है

सबको सही-सही गिन पाएगी डिजिटल जनगणना?

दिलीप घोष

2027 की जनगणना छह साल की देरी से शुरू हुई है और इसे लेकर लोगों में खासी बेचैनी है। यह भारत की पहली डिजिटल जनगणना है, जिसे सरकार आधुनिकीकरण की दिशा में एक बड़ा कदम बता रही है। हालांकि लगभग 33 लाख सरकारी स्कूल टीचर और फ्रंटलाइन वर्कर भी इसमें लगे हुए हैं, जो भीषण गर्मी में हाथ में स्मार्टफोन लेकर देश भर में घर-घर जाकर 33 सवालों वाली प्रश्नावली भरते देखे जा सकते हैं। यह इस प्रक्रिया का महज पहला हिस्सा है।

डिजिटल जनगणना के वादे जाने-पहचाने हैं: रियल-टाइम डेटा अपलोड, कुछ ही दिनों में शुरुआती नतीजे और सालों के बजाय महीनों में अंतिम आंकड़े जारी हो जाना। इसमें पहले से मौजूद (इन-बिल्ट) वैलिडेशन चेक और जियो-टैगिंग का मकसद डेटा भरने में होने वाली गलतियों और गणना में होने वाली चूक कम करना है, जबकि डिजिटल डैशबोर्ड एडमिनिस्ट्रेटर्स को फ़ील्ड स्टाफ पर बेहतर निगरानी रखने में मददगार होने की उम्मीद जताई गई है। फिर भी सवाल वाजिब है: क्या यह डिजिटल जनगणना समस्त भारतीयों की सही-सही गिनती करने में सक्षम है, खासकर तब, जब डेटा-आधारित तरीकों से लोगों को बाहर किए जाने की डरावनी कहानियां हमारे सामने हों?

एसआईआर से मिले सबक

डिजिटल जनगणना की यह सरकारी कोशिशें उस दौर में शुरू हुई हैं, जब अन्य कई डिजिटल शुरुआतों की नाकामियां ज्यादा पुरानी नहीं पड़ी हैं। सबसे ताजा और अहम है वोटर लिस्ट का ‘स्पेशल इंटेंसिव रिविजन’ (एसआईआर), जिसके तहत पहले दो चरणों में बारह राज्यों और केन्द्र-शासित प्रदेशों में 5.2 करोड़ से ज्यादा नाम हटा दिए गए। जनगणना के काम में न सिर्फ़ एसआईआर प्रक्रिया वाले शिक्षकों और उसी कमजोर डिजिटल ढांचे का ही इस्तेमाल हो रहा है, बल्कि यह अविश्वास की उस भावना के बीच भी हो रहा है, कि गणना की इस प्रक्रिया में भी नागरिकों

को पात्रता परीक्षा से गुजरना पड़ सकता है, और जिसके ‘आधार’ पर वे लिस्ट से बाहर हो सकते हैं। अविश्वास बेबुनियाद नहीं हैं। पश्चिम बंगाल में, एसआईआर के ऑटोमेटेड डेटा-मैचिंग प्रोटोकॉल ने शक की एक सर्वथा नई श्रेणी सामने ला दी- जिसे भारत के चुनाव आयोग ने ‘तार्किक विसंगति’ (लॉजिकल डिसक्रेपेंसी) नाम दिया, और इसके तहत 91.46 लाख वोटरों को चिह्नित किया गया। यह सिस्टम बनाया तो ना ए रिकॉर्ड्स को 2002 के डिजिटाइज्ड डेटाबेस से मिलाकर वंशावली का पता लगाने के लिए किया गया था, लेकिन हुआ कुछ ऐसा कि कई पुराने रिकॉर्ड बांग्ला में होने के कारण ऑटोमेटेड ट्रांसलेशन अक्सर क्षेत्रीय स्पेलिंग और उच्चारण को गलत पढ़ या समझ लेता। यही नहीं, माता-पिता और बच्चे की उम्र में पंद्रह साल से कम का अंतर होने जैसी वजहों से भी अनेक परिवार ‘चिह्नित’ हो गए, और नतीजतन बड़े पैमाने पर ऑटोमेटेड अलर्ट जारी हो गए।

भले ही कलकत्ता हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट - दोनों ने ही लोकल वैरिफिकेशन के बजाय सेंट्रलाइज्ड एल्गोरिदम पर निर्भर रहने पर सवाल उठाए और माना कि कोई एल्गोरिदम दस्तावेजों पर आधारित सच्चाई से ऊपर नहीं हो सकता और एल्गोरिदम से मिलने वाले संकेत को अंतिम फैसले के बजाय एक प्रशासनिक संकेत के तौर पर ही देखा जाना चाहिए, फिर भी सुप्रीम कोर्ट ने एसआईआर प्रक्रिया को मंजूरी दे दी, जबकि नामों को हटाने के खिलाफ लंबित अपीलों पर सुनवाई और फैसला होना अब भी बाकी है।

यह टेक्नोलॉजी पर निर्भरता का ही मामला है कि 2027 की जनगणना में भी वैसी ही मुश्किलें और बड़े पैमाने पर गलतियों का खतरा है, जिसकी गुंजाइश पहले वाली कागजी प्रक्रिया या तरीके में नहीं थी। घर-घर जाकर जनगणना में यह तो संभव है कि कहीं-कहीं कोई एंट्री स्पष्ट न हो या कोई घर छूट जाए, लेकिन डिजिटल जनगणना में तो गड़बड़ी बड़ी खामोशी से और बड़े पैमाने पर हो सकती है। एल्गोरिदम में खामी या गड़बड़ी, या सर्वर के साथ

फोटो: मोदी ज़ेक्रीक



फोटो: मोदी ज़ेक्रीक

छेड़छाड़ की स्थिति में, जब तक गलती का पता चलेगा, लाखों रिकॉर्ड खराब या डिलीट हो चुके हो सकते हैं।

केन्द्रीकृत सर्वर की कमजोरी

डेटा की सुरक्षा बड़ी चिंता है। भारत में तो केन्द्रीकृत सरकारी सर्वर में सेंध लगने या डेटा लीक का इतिहास रहा है, और 2027 की योजना को भी इस आशंका से बरी नहीं किया जा सकता। जून 2023 में को-विन (CoWIN) पोर्टल से डेटा लीक होने के बाद एक टेलीग्राम बॉट के जरिये आधार और फोन नंबर जैसे संवेदनशील रिकॉर्ड तक अनधिकृत पहुंच मिल गई थी। यह समझने को पर्याप्त है कि केन्द्रीकृत डेटाबेस से डेटा चोरी कितनी आसान है।

यह कोई अकेली घटना नहीं थी। 2018 के बाद से आधार प्रणाली में डेटा लीक की घटनाएं बार-बार सामने आई हैं, और 2022 में दिल्ली एम्स पर हुए साइबर हमले ने

भी रोकने में वे सफल रहे हैं। दूसरी ओर, कानूनी जानकारों का तर्क है कि जब कोई धार्मिक संस्थान, जो सीधे लोगों से जुड़ा हो, किसी प्राइवेट ट्रस्ट के तौर पर काम करता है और कानूनी निगरानी के सामान्य दायरे से बाहर होता है, तो उसे भरोसेमंद ऑडिट सिस्टम के जरिये जांच के लिए खुला रहना चाहिए, क्योंकि आस्था भले ही ‘निजी’ हो, उसके नाम पर इकट्ठा किया गया पैसा जनता के बीच से ही आता है।

सार्वजनिक मंदिरों में दिए गए दान का प्रबंधन स्वायत्त या वंशानुगत ट्रस्टियों द्वारा ठीक से संचालित न किए जाने की स्थिति में अदालतें पहले भी दखल देती रही हैं:

- चिदंबरम नटराज मंदिर मामले (2014) में, तमिलनाडु के मशहूर नटराज मंदिर के वंशानुगत ट्रस्टियों (पोडु दीक्षितार) ने पूरी तरह से स्वायत्त प्रबंधन का दावा किया। सुप्रीम कोर्ट ने फैसला दिया कि हालांकि राज्य किसी मंदिर का स्थायी रूप से नियंत्रण नहीं ले सकता, लेकिन अगर सार्वजनिक चढ़ावे में बड़े पैमाने पर वित्तीय हेराफेरी या कुप्रबंधन का सबूत मिलता है, तो उसे दखल देने, खातों की ऑडिटिंग और ट्रस्टियों पर आपराधिक मुकदमा चलाने का अधिकार है।

- श्री पद्मानाभस्वामी मंदिर मामले (2020) में, जावण्कोर के शाही परिवार ने मंदिर और उसके विशाल तहखानों पर निजी प्रबंधन का दावा किया था। सुप्रीम कोर्ट ने उनके पारंपरिक अधिकार तो बरकरार रखे, लेकिन स्पष्ट तौर पर कहा कि किसी सार्वजनिक धार्मिक संस्थान को निजी जागीर की तरह नहीं चलाया जा सकता। कोर्ट ने खजाने की देखरेख और सख्त, पारदर्शी ऑडिटिंग मानक लागू करने के लिए एक स्वतंत्र प्रशासनिक समिति बना दी।

भारत के सामान्य टैक्स और प्रॉपर्टी कानूनों के तहत, जब कोई संपत्ति धार्मिक श्रद्धालुओं के किसी ऐसे समूह को समर्पित की जाती है, जिसकी पहचान निश्चित नहीं है, तो उसे अपने आप ‘सार्वजनिक धार्मिक ट्रस्ट’ (पब्लिक रिलीजियस ट्रस्ट) की कानूनी परिभाषा मिल जाती है।

तीर्थ क्षेत्र के दो ट्रस्टियों- महासचिव चंपत राय और सदस्य ट्रस्टी अनिल मिश्रा ने ‘नैतिक जिम्मेदारी’ का हवाला देते हुए इस्तीफा दे दिया, जबकि कोषाध्यक्ष गोविंद देव गिरी ने खुद को बेगुनाह बताते हुए कहा कि वे पुणे में बैठते हैं, ट्रस्ट में बने रहे। कानूनी रूप से यह कहाँ तक सही है?

कोषाध्यक्ष गोविंद देव गिरी ने अपने बचाव में कहा है कि वे पुणे में बैठते हैं और हर महीने के आखिर में सिर्फ ऑडिट किए गए खाते की समीक्षा करते हैं। कानूनी जानकारों का कहना है कि इंडियन ट्रस्ट्स एक्ट, 1882 के तहत, नियुक्त कोषाध्यक्ष ट्रस्ट की संपत्ति की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार होता है। उनका तर्क है कि कोषाध्यक्ष भौगोलिक दूरी या व्यक्तिगत रूप से शामिल न होने का हवाला देकर कानूनी तौर पर अपनी

जिम्मेदारी से बच नहीं सकते।

अगर नकदी प्रबंधन की मानक संचालन प्रक्रिया (एसओपी) में बुनियादी तौर पर खामियां थीं, और जिसकी वजह से नकदी गिनने वाले कर्मचारी बार-बार नोटों की गड़ियां अपनी जेबों और जूतों में छिपा लेते थे, तो इसके लिए कोषाध्यक्ष को आपराधिक लापरवाही का दोषी माना जा सकता है। भले ही वह खुद चोरी में आपराधिक रूप से शामिल नहीं थे, लेकिन सुरक्षित आंतरिक नियंत्रण या ऑडिटिंग सिस्टम लागू न कर पाना भरोसे से जुड़ी जिम्मेदारियों (सिविल फिड्यूशरी ड्यूटीज) का उल्लंघन है।

चंपत राय और अनिल मिश्रा के ‘नैतिक आधार’ पर इस्तीफे को धार्मिक या नैतिक काम के बजाय एक सोची-समझी कानूनी चाल के तौर पर देखा जा रहा है। नैतिक जिम्मेदारी का हवाला देते हुए पद छोड़ने से राय और मिश्रा ने खुद को जबरदस्ती हटाए जाने से बचा लिया है। ट्रस्ट के संविधान के मुताबिक, जब कोई ट्रस्टी इस्तीफा देता है, तो उस पर कार्रवाई करके उसे मंजूर करना जरूरी होता है। इससे उन्हें प्रशासन से आसानी से हटने का मौका मिल जाता है, और ट्रस्ट को तकनीकी रूप से उन्हें किसी प्रशासनिक विफलता के लिए ‘दोषी’ नहीं ठहराना पड़ता।

ट्रस्ट इन दोनों के बचाव में तत्काल सार्वजनिक तौर पर सामने आया- कुछ सदस्यों ने तो उन्हें ‘बेदाग’ तक बताया और कहा कि उनसे महज ‘लापरवाही वाली गलतियां’ हुई थीं, लेकिन इस कदम का कड़ा कानूनी विरोध हुआ है।

और इस पूरे प्रकरण में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की इस गहन चुप्पी का राज क्या, जबकि उन्होंने तो मंदिर के उद्घाटन में बतौर ‘यजमान’ मुख्य भूमिका निभाई थी?

अब असल हो या मनगढ़ंत, राम मंदिर से जुड़ी हर चीज का श्रेय प्रधानमंत्री मोदी को दिया जाता रहा है। यहां तक कि सुप्रीम कोर्ट के अयोध्या फैसले के लिए आधार/तर्क तैयार करने का श्रेय भी उन्हें ही दिया गया। सबको पता है कि मंदिर और उसके ट्रस्टी बोर्ड में कौन होगा, यह असल में पीएमओ ही नियंत्रित करता है, भले ही वह रोजमर्रा के कामकाज से दूर रहता हो और आधिकारिक तौर पर खुद को इससे अलग दिखाता हो। मोदी के भरोसेमंद सहयोगी नृपेंद्र मिश्र, जो उनके प्रथम कार्यकाल (2014-2019) में प्रधान सचिव भी थे, ट्रस्ट के पदेन सदस्य और राम मंदिर निर्माण समिति के अध्यक्ष हैं; और कोई शक नहीं कि वहां की हर गतिविधि पर उनकी पैनी नजर रहती है। ट्रस्ट बनाने की घोषणा संसद में मोदी ने ही की थी, उन्होंने ही आरएसएस प्रमुख मोहन भागवत की मौजूदगी में ‘भूमि पूजन’ किया था और जनवरी 2024 में मंदिर की प्राण-प्रतिष्ठा के समय ‘यजमान’ की भूमिका भी निभाई थी। वह इस धार्मिक स्थल के राजनीतिक महत्व को अच्छी तरह समझते हैं, फिर भी इस घोटेले पर उनकी चुप्पी रहस्यमय है। आखिर माजरा क्या है? ■

कृपया पेज 4 भी देखें



महाराष्ट्र में विपक्ष की तलाश

दो प्रमुख क्षेत्रीय दलों से सक्रिय और सशक्त विपक्ष की भूमिका की उम्मीद नहीं। ऐसे में कांग्रेस के लिए यह हो सकता है मौका

जयदीप हार्दिकर

मुंबई को भारी बारिश में डुबो देने वाली एक उमस भरी रविवार की सुबह, उड़व ठाकरे अपने कार्यकर्ताओं और समर्थकों के सामने खड़े होकर ‘राम रक्षा स्तोत्र’ का पाठ कर रहे थे। यह कोई चुनावी अभियान नहीं था। अपनी पार्टी के लोकसभा सदस्यों द्वारा पाला बदलने के एक और दौर के बाद, ठाकरे भाजपा-आरएसएस समर्थित ट्रस्ट द्वारा अयोध्या के राम मंदिर के चंदे में की गई कथित हेराफेरी के विरोध में ‘राम रक्षा आंदोलन’ का नेतृत्व कर रहे थे।

भगवा झंडों के बीच खड़े होकर उन्होंने भाजपा पर करोड़ों हिंदूओं की आस्था के साथ खिलवाड़ करने का आरोप लगाते हुए कहा कि ‘हिन्दू भोले हैं, मूर्ख नहीं।’ इसका राजनीतिक प्रतीकवाद बिल्कुल स्पष्ट था: एक ऐसा नेता जिसने पिछले चार साल अपनी पार्टी की पहचान और नियंत्रण को बचाने के लिए राजनीतिक व कानूनी लड़ाई लड़ने में बिताए हैं, वह उसी वैचारिक धरातल पर लौट रहा है जिसे उनके पिता दिवंगत बाल ठाकरे ने दशकों तक सींचा था। फिर भी, इन भजनों और श्लोकों के पीछे एक गहरा सन्नाटा और चिंता छिपी थी।

यह विरोध प्रदर्शन किसी वैचारिक आत्मविश्वास की अभिव्यक्ति से कहीं अधिक, उस राजनीतिक जमीन को वापस पाने का कमजोर और हताश प्रयास था जो 2022 में उनके सबसे भरोसेमंद सहयोगी से धुर विरोधी बने एकनाथ शिंदे के विद्रोह के बाद से लगातार खिसकती जा रही है। चुनावी हार तो अपनी जगह है ही, लेकिन हर एक दलबदल या किसी विधायक के पाला बदलने की अफवाह उस पार्टी के मनोबल को पूरी तरह तोड़ देती है जो पहले ही अपना नाम, अपना चुनाव चिह्न, अपनी विधायी ताकत और अपने संगठन का एक बड़ा हिस्सा गंवा चुकी है।

संकट का यह दायरा केवल एक पार्टी तक सीमित नहीं। महाराष्ट्र आज खुद को शायद अपने इतिहास के उस दौर में पा रहा है जब विपक्ष सबसे ज्यादा कमजोर है। क्षेत्रीय दलों के बिखराव ने एक ऐसी विधायिका को जन्म दिया है जहां सत्तारूढ़ गठबंधन का अत्यधिक और प्रचंड वर्चस्व है, जबकि वे दल जिनसे सरकार को चुनौती मिलने की उम्मीद थी, वे खुद को जिंदा रखने के ही संघर्ष में उलझे हुए हैं।

आगर केवल महा विकास अघाड़ी (एमवीए) के तीन घटकों को गिनें, तो 288 सदस्यीय सदन

में विपक्षी गठबंधन के पास केवल 46 विधायक बचे हैं। न तो 20 विधायकों वाली शिवसेना (यूबीटी), न ही 16 विधायकों वाली कांग्रेस और न ही 10 विधायकों वाली एनसीपी (शरद पवार) - इनमें से कोई भी दल नेता प्रतिपक्ष के पद पर दावा करने के लिए न्यूनतम एक-तिहाई यानी 29 विधायकों की सीमा को पूरा नहीं करता है। पिछले छह दशकों में यह पहला मौका है जब महाराष्ट्र विधानसभा में कोई मान्यता प्राप्त विपक्ष का नेता नहीं है।

यह राजनीतिक शून्यता कांग्रेस के लिए मौका बन सकता है, जो राज्य भर में मौजूदगी रखने वाली अकेली राष्ट्रीय पार्टी है, भले ही वह कितनी ही कमजोर क्यों न हो; लेकिन यह एक लंबी और कठिन यात्रा होगी।

सत्ता और बड़े ठेकों के प्रलोभन के कारण पार्टी से सांसदों, विधायकों से लेकर पार्षदों और स्थानीय पदाधिकारियों तक का पलायन लगातार जारी है। ऐसे में उड़व ठाकरे के सामने सबसे बड़ी चुनौती अपने वफादोरों और उधेड़बुन में पड़े लोगों को यकीन दिलाने की है कि उनकी पार्टी का भविष्य अब भी सुरक्षित है। राजनीति अंततः आत्मविश्वास को पुस्कृत करती है। कार्यकर्ता और कैडर उन्हीं संगठनों के साथ टिकते हैं जो चुनाव जीतने, उनके करियर को सुरक्षित रखने और राजनीतिक अवसर उपलब्ध कराने में सक्षम दिखते हैं।

आज इस पार्टी की सबसे बड़ी पूंजी उड़व ठाकरे की व्यक्तिगत साख और विश्वसनीयता है। उनके बेटे आदित्य अभी तक इस कमान को पूरी तरह संभालने के लिए तैयार नहीं दिखते हैं। तमाम समकालीन नेताओं के विपरीत, उड़व को बेहद संतुलित और गरिमायु मना जाता है। कोविड के दौरान उनके काम करने के तरीके से पारंपरिक वोट बैंक से इतर भी उन्हें ख्याति मिली। शिंदे के विद्रोह के बाद भी बहुत लोगों की सहानुभूति उनके साथ थी, लेकिन केवल सहानुभूति के दम पर किसी राजनीतिक संगठन को लंबे समय तक नहीं चलाया जा सकता।

बाल ठाकरे ने जिस शिवसेना की निर्माण किया था, वह महज एक चुनावी मशीन नहीं थी। वह शाखाओं, मोहल्ला आयोगों, श्रमिक यूनियनों, नगर निकायों और वफादार शिवसैनिकों का एक जटिल लेकिन सुदृढ़ नेटवर्क थी। इसी कारण 2000 के दशक में जब राज ठाकरे या नारायण राणे जैसे कद्दवर नेताओं ने पार्टी छोड़ी, तो शिवसेना को वैसा नुकसान नहीं हुआ जैसा

आज हो रहा है।

अब उस सांगठनिक ढांचे का बड़ा हिस्सा इस हद तक नष्ट हो चुका है कि उसे दुरुस्त करना आसान नहीं। और उड़व ठाकरे शाखा व्यवस्था को पुनर्जीवित करने के बुनियादी काम नहीं कर पाए। इस ढांचे के पुनर्निर्माण के लिए जिस धैर्य, उद्देश्य की स्पष्टता और संसाधनों की आवश्यकता होती है, अस्तित्वगत संकट के बीच उन्हें जुटा पाना और बनाए रखना बेहद कठिन है।

पहचान का संकट

इतना ही चिंताजनक प्रश्न पार्टी की पहचान का भी है। शिवसेना (यूबीटी) किसका प्रतिनिधित्व करती है? हिन्दुत्व की राजनीति पर पहला दावा करने वाला (भाजपा के रूप में) पहले से मौजूद है, और उड़व की पार्टी ने अपने क्षेत्रीय, यानी ‘मराठी मानुष’ के मूल एजेंडे की अनदेखी की है। बाल ठाकरे के नेतृत्व में शिवसेना के पास एक वैचारिक स्पष्टता थी, भले ही उनका मराठी क्षेत्रवाद, हिन्दुत्व और सड़क पर उतरकर राजनीति करने का अनूठा तरीका कितना भी धुवीकरण करने वाला क्यों न रहा हो। उड़व ठाकरे ने 2019 के बाद सुशासन और सत्ता के हित में वैचारिक विरोधियों के साथ हाथ मिलाकर पार्टी को नए सिरे से स्थापित करने का प्रयास किया। वह निर्णय तब राजनीतिक रूप से आवश्यक रहा होगा, लेकिन

कोटि: कैप्टन इंदुजी



उड़व ठाकरे ने ‘राम रक्षा आंदोलन’ शुरू तो किया है, लेकिन इससे उसकी वैचारिक पहचान के बारे में नए सवाल पैदा हो गए हैं

उसने पार्टी की छवि को इस तरह बदल दिया कि आज भी अनसुलझा है।

क्या शिवसेना (यूबीटी) मुख्यतः एक मराठी क्षेत्रीय पार्टी है? क्या यह एक उदार हिन्दुत्ववादी संगठन है? क्या यह अब एक व्यापक धार्मनिरपेक्ष क्षेत्रीय ताकत बन चुकी है? या फिर इसकी पहचान मुख्य रूप से भाजपा के विरोध तक सीमित है? राजनीतिक कार्यकर्ताओं को चुनावी रणनीति के साथ-साथ वैचारिक दिशा की भी उतनी ही जरूरत होती है। मतदाताओं को भी स्पष्टता चाहिए। जो पार्टी लगातार केवल यही समझाने में व्यस्त रहे कि ‘वह क्या नहीं है’, वह लोगों को यह विश्वास दिलाने के लिए संघर्ष करेगी कि वास्तव में वह ‘क्या है’ या उसका मूल उद्देश्य क्या है।

शरद पवार की राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी भी कुछ हद तक इसी संकट से जूझ रही है। पवार भारत के सबसे अनुभवी नेताओं में से एक हैं और आज भी उनका बहुत सम्मान है। लेकिन उनका व्यक्तिगत कद सांगठनिक क्षरण की अनिश्चितकाल

तक भरपाई नहीं कर सकता। शिवसेना (यूबीटी) की तरह ही, उनकी पार्टी ने भी विभाजन के बाद अपना मान्यता प्राप्त नाम और सिंबल खो दिया। उत्तराधिकार को लेकर सवाल आज भी बने हुए हैं।

इसका संयुक्त प्रभाव अभूतपूर्व है। महाराष्ट्र के दो प्रमुख क्षेत्रीय विपक्षी दल एक ही समय में अपने सांगठनिक अस्तित्व को बचाने की लड़ाई में लगे हुए हैं। विधायिका के भीतर और बाहर सरकार को घेरने और चुनौती देने के बजाय वे अपने विधायकों, कार्यकर्ताओं और स्थानीय नेताओं को पाले में बनाए रखने की चिंता में डूबे हैं।

इन क्षेत्रीय दलों की इसी लाचारी ने कांग्रेस के लिए एक मैदान तैयार कर दिया है, जिसके पास इस समय कुछ ऐसा है जो उसके क्षेत्रीय सहयोगियों के पास नहीं है- सांगठनिक निरंतरता। कांग्रेस को किसी बड़े विभाजन का सामना नहीं करना पड़ा है। उसकी जिला समितियां आज भी बरकरार हैं। वास्तव में, अपने देशव्यापी

सांगठनिक पुनर्गठन अभियान यानी ‘संगठन सृजन अभियान’ के तहत स्थानीय इकाइयों के नए अध्यक्षों की नियुक्ति से पार्टी को नई धार मिली है। क्या यह अभियान कांग्रेस को नीचे से ऊपर तक दोबारा खड़ा कर पाएगा या नहीं, यह अलग सवाल है, लेकिन इसकी वैचारिक पहचान अपेक्षाकृत स्थिर है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस पर यह सवाल नहीं है कि कौन सा गुट ‘असली पार्टी’ है।

मगर इस सांगठनिक निरंतरता का मतलब यह कदाई नहीं कि यह स्वतः चुनावी पुनरुत्थान में बदल जाएगी। कांग्रेस की अपनी सांगठनिक कमजोरियां हैं और उसने जनता के असंतोष को राजनीतिक लाभ में बदलने के लिए हमेशा संघर्ष किया है। फिर भी, अगर महाराष्ट्र एक कबिल विपक्ष की तलाश करता है, तो कांग्रेस उस जगह पर कबिज हो सकती है। ऐसा इसलिए नहीं कि कांग्रेस में कोई बहुत बड़ा पुनरुत्थान हो रहा है, बल्कि इसलिए होगा क्योंकि उस भूमिका के अन्य दावेदार बिखर चुके हैं। ■

एमएसएमई लफ़फ़ाज़ी, नियम और हकीकत

देश का कर-ढांचा और अनुपालन औपचारिकताएं लील रही हैं छोटे उद्योगों को

अजीत रानाडे

बीते 27 जून को ‘राष्ट्रीय एमएसएमई दिवस’ के मौके पर कसींदे गढ़ने और तारीफों का एक ऐसा दौर चला जिसने छोटे व्यवसायों को रोजगार, औद्योगिक उत्पादन और निर्यात की ‘रीढ़’ मानकर उनका महिमामंडन किया। इसके ठीक बाद, 1 जुलाई को देश ने माल और सेवा कर (जीएसटी) की नौवीं वर्षगांठ पर ‘जीएसटी दिवस’ मनाया। मगर इन आयोजनों के बीच की कड़वी हकीकत यह है कि भारत के छोटे उद्यमियों को आज भी औपचारिक अर्थव्यवस्था का हिस्सा बनने का कोई व्यावहारिक रास्ता नहीं सुझ रहा। वे नीति-जनित चक्रव्यूह के ऐसे शिकंजे में फंसे हैं, जहां बड़े कॉरपोरेट ग्राहक ‘समय’ को हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं और दूसरी तरफ, देश का जटिल व उपार्जन-आधारित कर-ढांचा ‘अनुपालन’ को एक हथियार बनाकर छोटे उद्योगों पर प्रहार करता है।

इस ढांचागत अंतर्विरोध ने एमएसएमई क्षेत्र के सामने एक विनाशकारी दोहरा संकट खड़ा कर दिया है। एक तरफ, इन छोटी इकाइयों को बड़े कॉरपोरेट खरीदारों और सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रमों के लिए ‘ब्याज-मुक्त क्रेडिट लाइन’ बनने के लिए मजबूर होना पड़ता है, जो महीनों तक उनके भुगतानों को रोके रखते हैं। दूसरी तरफ, जीएसटी व्यवस्था उस पैसे पर तुरंत और बिना किसी समझौते के टैक्स भुगतान की मांग करती है, जो एमएसएमई को अभी तक प्राप्त ही नहीं हुआ है। यह विसंगति छोटे व्यवसायों का दम घोटने के लिए काफी है।

एमएसएमईडी अधिनियम, 2006 की धारा 15 के तहत, खरीदारों के लिए यह कानूनी बाधता है कि यदि कोई लिखित अनुबंध है तो वे 45 दिनों के भीतर, और अनुबंध न होने की स्थिति में 15 दिनों के भीतर विक्रेताओं के बिलों का निपटान करें। यह कानून तय समय सीमा का उल्लंघन करने पर भारी आर्थिक दंड और चक्रवर्ती ब्याज देने की जवाबदेही भी तय करता है।

मगर जमीनी धरातल पर ये समय सीमाएं सरसर बेमानी हैं। बड़े निजी संस्थान और सरकारी निकाय अमूमन भुगतान चक्र को 90, 120 या 180 दिनों तक खींच देते हैं। इस खाई को पाटने के लिए किए गए संस्थागत प्रयास भी कॉरपोरेट घरानों के असहयोग की भेंट चढ़ चुके हैं। ‘ट्रेड रिसीवेबल्स डिस्काउंटिंग सिस्टम’ को ही लें। रिजर्व बैंक द्वारा विनियमित इस इलेक्ट्रॉनिक प्लेटफॉर्म का उद्देश्य यह था कि एमएसएमई तत्काल नकदी के लिए अपने बिलों की बैंकों के



एमएसएमई से लाखों लोग जुड़े हैं, पर छोटा व्यवसाय एक जहरीले और कभी न मिलने वाले कर्ज के बोझ तले दबा रह जाता है



‘जरिये नीलामी कर सकें, जिसे तकनीकी भाषा में इलेक्ट्रॉनिक प्लेटफॉर्म पर ‘बिल डिस्काउंटिंग’ कहते हैं। लेकिन बड़े कॉरपोरेट और लोक उपक्रम इस प्लेटफॉर्म पर आने या इन बिलों को मंजूरी देने से मना कर देते हैं क्योंकि टीआरडीएस प्लेटफॉर्म खरीदारों को परिपक्वता की तारीख पर एक कड़े ऑटो-डेबिट सिस्टम से बांध देता है, और किसी भी भुगतान चूक की स्थिति में इसकी रिपोर्ट स्वतः क्रेडिट ब्यूरो को चली जाती है। अपने क्रेडिट रिकोर को बचाने के लिए नकदी प्रबंधन को सुधारने के बजाय, ये कॉरपोरेट दिग्गज इस प्लेटफॉर्म को ही ब्लॉक कर देते हैं, जिससे छोटे विक्रेता मझाधार में रह जाते हैं।

नकदी प्रवाह का गंभीर संकट

भुगतान में होने वाली इस देरी को जीएसटी भी मौजूदा ढांचा और बदतर बना देता है, जो वास्तविक नकदी प्रवाह के बजाय उपार्जन के सिद्धांत पर काम करता है। यानी यदि कोई बिल जेनरेट हो गया है, तो टैक्स का भुगतान अगले महीने की 20 तारीख तक करना ही होगा, भले उस बिल का पैसा जब भी मिले। इस तरह, एक

एमएसएमई इकाई को बिल बनाने के फौरन बाद 18 फीसद टैक्स अपनी जेब से चुकाना पड़ता है, जबकि कॉरपोरेट खरीदार बिना एक भी रुपया दिए 45 दिनों की कानूनी सीमा को दरकिनार कर देता है। यह स्थिति नकदी प्रवाह का एक भयानक और उल्टा असंतुलन पैदा करती है। छोटे वेंडर अपने कर्मचारियों का वेतन रोकने पर मजबूर हो जाते हैं या फिर बाजार से ऊंचे ब्याज पर कर्ज लेने को विवश होते हैं। इस वित्तीय संकट को और गंभीर बनाने का काम कम डिजिटल साक्षरता, तकनीक तक पहुंच का अभाव और कर-पोर्टल की जटिल संरचनाएं करती हैं। अर्ध-शहरी औद्योगिक समूहों में तो इंटरनेट कनेक्टिविटी की समस्याएं संकट और बढ़ा देती हैं।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण कार्यालय (एनएसएसओ) के असंगठित क्षेत्र के उद्यमों के वार्षिक सर्वेक्षण आंकड़े बताते हैं कि भारत में अनुमानित 7.7 करोड़ गैर-कृषि और गैर-निर्माण असंगठित प्रतिष्ठान हैं। आंकड़े यह भी दर्शाते हैं कि ये उद्यम राज्य के औपचारिक तंत्रों से दूरी बना रहे हैं, क्योंकि मौजूदा प्रणालियां उनके प्रति दमनकारी हैं। यही कारण है कि इनमें से केवल

सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्योग वास्तव में अर्थव्यवस्था की रीढ़ बन सकते हैं, लेकिन इसके लिए उन्हें औपचारिकताओं का एक व्यावहारिक और वास्तविक रास्ता दिया जाना जरूरी है

लगभग 10 लाख सूक्ष्म उद्यम ही जीएसटी के तहत पंजीकृत हैं। इसके अलावा, जहां जीएसटी नेटवर्क के रिकॉर्ड बताते हैं कि मोटे तौर पर 70 लाख करदाताओं का वार्षिक टर्नओवर 1 करोड़ रुपये से कम है, वहीं जमीनी स्तर का सर्वेक्षण पाता है कि ऐसे जीएसटी-पंजीकृत प्रतिष्ठान वास्तव में 12 लाख से भी कम हैं। यह भारी अंतर किसी व्यापक कर चोरी का संकेत नहीं है, बल्कि यह छोटे उद्योगों की अस्तित्व बचाने की एक हताश रणनीति है। छोटे व्यवसायों को यह समझ आ गया है कि जीएसटी प्रणाली के भीतर कदम रखने का सीधा मतलब कानूनी और वित्तीय जटिलताओं के जाल में दम तोड़ना है। यह दोहरा संकट एक गहरे अस्तित्वगत विरोधाभास को जन्म देता है। बिना भुगतान वाले बिलों पर अजेब से टैक्स चुकाने के डर से अधिकतर छोटे व्यवसाय जीएसटी दायरे से बाहर रहना चुनते हैं। लेकिन जीएसटी में पंजीकरण न कराना उनके लिए एक ‘व्यावसायिक देश निकासाल’ साबित होता है। बड़े कॉरपोरेट घरानों की पूरी सप्लाय चेन इनपुट टैक्स क्रेडिट को अधिकतम करने के सिद्धांत पर टिकी होती है। यदि कोई एमएसएमई जीएसटी के तहत पंजीकृत नहीं है, तो बड़े कॉरपोरेट उनके साथ व्यापार करने से कतराते हैं।

जो उद्यम अस्तित्व बचाने के लिए पंजीकरण करा भी लेते हैं, उनके लिए कानूनी उपचार सत्ता और प्रभाव के इस भारी असंतुलन के कारण बेकार साबित होते हैं। नीति-निर्माता अक्सर डिफॉल्टर खरीदारों को सार्वजनिक रूप से शर्मांदा करने के लिए ‘एमएसएमई समाधान’ पोर्टल का हवाला देते हैं, लेकिन ऐसा सोचना सप्लाय चेन की जमीनी हकीकत से अज्ञानता को दिखाता है। ज्यादातर छोटे एमएसएमई वेंडर अपने राजस्व के 80 से 100 फीसद के लिए केवल एक ही बड़े कॉरपोरेट ग्राहक पर निर्भर होते हैं। एक छोटा वेंडर अपने ही मुख्य ग्राहक को शर्मांदा नहीं कर सकता, क्योंकि उस ग्राहक को नाराज करने की कीमत वह नहीं चुका सकता। 45 दिनों के नियम की आक्रामक मांग करना, आयकर अधिनियम की धारा 43बी(एच) को कड़ाई से लागू करवाना, या समाधान पोर्टल पर केस दर्ज करने का नतीजा यह होता है कि उन्हें बिना किसी शोर-शराबे के वेंडर लिस्ट से बाहर कर दिया जाता है।

यहां तक कि जीएसटी के तहत 180 दिनों के भीतर इनपुट टैक्स क्रेडिट को पलटने का नियम भी राज्य के आत्म-हित और स्वार्थ को ही उजागर करता है। यदि कोई खरीदार 180 दिनों तक भुगतान नहीं करता, तो कानून उसे निर्देश देता है कि वह दावा किए गए टैक्स क्रेडिट को 18 फीसद

ब्याज दंड के साथ सरकार को लौटाए। राज्य उस बड़े कॉरपोरेट से अपना जुर्माना और टैक्स सफलतापूर्वक वसूल कर लेता है, लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में पीडित एमएसएमई को न तो कोई टैक्स रिफंड मिलता है और न ही कोई वित्तीय राहत। सरकार अपना राजस्व दो बार सुरक्षित कर लेती है, जबकि छोटा व्यवसाय एक जहरीले और कभी न मिलने वाले कर्ज के बोझ तले दबा रह जाता है।

यदि हम टैक्स कानून को जमीनी परिस्थितियों के अनुकूल बनाना चाहते हैं, तो राज्य को तीन हस्तक्षेपों पर विचार करना होगा:

- सूक्ष्म उद्यमों के लिए नकदी-आधारित जीएसटी:** एक निश्चित टर्नओवर सीमा तक के छोटे व्यवसायों को जीएसटी केवल तभी जमा करने की अनुमति दी जानी चाहिए, जब बिल की राशि वास्तव में उनके बैंक खाते में पहुंच जाए। टैक्स का संकलन वास्तविक पूंजी प्रवाह आधारित होना चाहिए।
- लो-बैंडविड्थ पोर्टल आर्किटेक्चर:** कर-पोर्टल का एक अत्यंत आसान संस्करण पेश किया जाए, जो खास तौर पर सूक्ष्म उद्यमों के अनुकूल हो। यह संस्करण उन क्षेत्रों में भी बिना किसी रुकावट के काम करने में सक्षम हो जहां इंटरनेट कनेक्टिविटी बेहद कमजोर है, और यह मासिक रिटर्न दाखिल करने के बोझ को न्यूनतम स्तर पर ले आए।
- जीएसटीएम-टीआरडीईएस डिजिटल ब्रिज:** बिलों को मंजूरी देने के मामले में बड़े कॉरपोरेट खरीदारों के पास ‘वीटो पावर’ नहीं होना चाहिए। जैसे ही जीएसटी पोर्टल पर किसी बड़े कॉरपोरेट (250 करोड़ से अधिक टर्नओवर) से जुड़ा कोई ई-इनवॉइस जेनरेट हो, सिस्टम को स्वचालित रूप से टीआरडीईएस प्लेटफॉर्म पर एक अपरिवर्तनीय और पूर्व-स्वीकृत ट्रेड रिसीवेबल बना देना चाहिए। इससे बैंक बिना किसी देरी के छोटे वेंडर को तुरंत फंड दे सकेंगे और असहयोग करने वाले बड़े खरीदार इस वित्तीय चक्र की बाधा नहीं बन पाएंगे। एमएसएमई अर्थव्यवस्था की रीढ़ बन सकते हैं, लेकिन इसके लिए जरूरी है कि सरकार उन्हें औपचारिकता के दायरे में आने का एक व्यावहारिक, सुरक्षित और वास्तविक रास्ता दे। ■

डॉ. अजीत रानाडे जलने-मनने अर्थशास्त्री हैं।

सौजन्य: ड बिलियन प्रेस

हिन्दुत्व के प्रमुख केन्द्रों में लूट-खसोट का खेल

अयोध्या और वाराणसी से लेकर उज्जैन, वृंदावन, केदारनाथ और बद्रीनाथ तक – लूटपाट का एक ही ढर्रा सामने आ रहा है

रश्मि सहगल

हमारे प्राचीन मंदिरों के आसपास की विशाल भूमि को हड़पने के लिए ‘पुनर्विकास’ का खेल खेला जा रहा है। निहित राजनीतिक स्वार्थ वाले इन जमीनों को मनमाने दामों पर उन्हीं ट्रस्टों को बेच रहे हैं जो इन मंदिरों का प्रबंधन संभालते हैं। काशी विश्वनाथ (वाराणसी), राम जन्मभूमि (अयोध्या), महाकालेश्वर (उज्जैन) या बाँके बिहारी (वृंदावन) हो- यह विवाद महज कुछ छिटपुट आरोपों तक सीमित नहीं है।

विपक्षी दलों, धार्मिक नेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं और यहां तक कि हिन्दुत्व खेमे के गुटों ने प्रभावशाली राजनीतिक हस्तियों, मंदिर ट्रस्टों और नौकरशाहों पर निजी लाभ के लिए जनता की आस्था के साथ खिलवाड़ करने का आरोप लगाया है। जमीनों की सट्टेबाजी, अपारदर्शी वित्तीय लेन-देन, व्यावसायीकरण और हजारों करोड़ का गबन हिन्दुत्व के इन प्रमुख केन्द्रों में सामने आ रहे घोटालों के मुख्य लक्षण बन गए हैं।

सबसे गंभीर आरोप अयोध्या में राम मंदिर का संचालन करने वाले ‘श्री राम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र ट्रस्ट’ पर लगे हैं। मोटे अनुमान के मुताबिक, चंदे में करीब 200 करोड़ रुपये की हेरोफेरी हुई, लेकिन स्थानीय लोगों का मानना है कि यह घोटाला 5,000 करोड़ रुपये से भी अधिक का है। विपक्षी नेताओं का आरोप है कि यह पैसा उन प्रभावशाली नेताओं तक पहुंचाया गया जिनके नामों का अभी तक खुलासा नहीं हुआ है।

यह परियोजना शुरू से ही विवादों में रही है। सबसे पुराने और शक्तिशाली रामानंदी संघदायों में से एक, ‘निर्मोही अखाड़ा’ ने विश्व हिन्दू परिषद (व्हिप) पर 1990 के दशक की शुरुआत से भक्तों से प्राप्त 1,400 करोड़ रुपये से अधिक के दुरुपयोग का आरोप लगाया था। आरोप था कि मंदिर निर्माण में खर्च के बजाय इस पैसे का उपयोग उनके अपने संस्थागत भवनों को बनाने और उनके नेताओं के राजनीतिक कद को बढ़ाने के लिए किया गया।

सर्वो्विदित है कि ट्रस्ट के पूर्व महासचिव चंपत राय और मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ के बीच वैचारिक पटरी नहीं बैठती थी। योगी आदित्यनाथ सही मौके के इंतजार में थे। 13 जून 2026 को उन्होंने एसआईटी के गठन का आदेश दिया। इसी दिन, राम मंदिर में निर्माण प्रभारी गोपाल राव के बारे में खबर आई कि वह सोने और चांदी की सिल्लियों से भरे बोरे लेकर ट्रेन पकड़कर रफूचक्कर हो गए। बाद में उन्हें बंगलुरु में आरएसएस के वरिष्ठ पदाधिकारियों के साथ देखा गया। बताया जाता है कि उनके भतीजे सोमेश आनंद अयोध्या से कर्नाटक तक सोने और चांदी

के ये बैग लेकर गए थे।

इस बीच, विपक्षी दलों ने संदेहास्पद भूमि लेन-देन के आरोपों को और तेज कर दिया है। राज्यसभा सांसद संजय सिंह ने जांच कर रही एसआईटी को 11 भूमि सौदों से जुड़े दस्तावेज सौंपे हैं। यह टीम अब राम मंदिर के आयोजनों पर हुए खर्चों की जांच कर रही है, जिसमें प्राण प्रतिष्ठा समारोह (जिसकी अध्यक्षता प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने की थी) पर खर्च हुए 113 करोड़ रुपये और नवंबर 2025 में हुए ध्वजारोहण समारोह पर खर्च हुए 10.12 करोड़ रुपये शामिल हैं।

ज्योतिर्मठ के शंकराचार्य स्वामी अविमुक्तेश्वरानंद सरस्वती ने बताया कि अब तक केवल निचले स्तर के कर्मचारियों को ही गिरफ्तार किया गया है, जबकि ‘घोटालों के लिए जिम्मेदार बड़े लोग’ खुलेआम घूम रहे हैं।

उत्तर प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष अजय राय ने सत्ताधारी भाजपा पर वाराणसी, वृंदावन और मिर्जापुर जैसे हिन्दू धार्मिक स्थलों की मौलिकता को नष्ट करने और उन्हें पर्यटन स्थलों में बदलने का आरोप लगाया है। राय का तर्क है कि काशी विश्वनाथ कॉरिडोर जैसी विकास परियोजनाओं की आड़ में प्राचीन धार्मिक इमारतों को ध्वस्त कर दिया गया, इसका दायरा 3,000 वर्ग फुट

से बढ़ाकर 5,00,000 वर्ग फुट कर दिया गया। उनका कहना है कि भाजपा नीत सरकार ने सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण के बजाय व्यावसायीकरण को प्राथमिकता दी, जिससे उन समुदायों की आजीविका नष्ट हो गई है जो सदियों से इन पवित्र स्थलों की सेवा कर रहे थे।

ऐसा ही ढर्रा उज्जैन में देखा जा रहा है, जिसे 2028 में होने वाले सिंहस्थ महाकुंभ के महेनजर अगले धार्मिक-पर्यटन स्थल के रूप में तैयार किया जा रहा है। इन तैयारियों के कारण महाकालेश्वर मंदिर के आसपास बड़े पैमाने पर भूमि अधिग्रहण शुरू हो गया है। पार्किंग सुविधाओं और ‘उज्जैन महाकाल लोक कॉरिडोर’ के लिए दुकानों, घरों और यहां तक कि एक दो सदी पुरानी मस्जिद को भी ध्वस्त कर दिया गया।

मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री मोहन यादव को इस भव्य घोषणा कि उनकी सरकार सिंहस्थ कुंभ के बुनियादी ढांचे के निर्माण के लिए 2,378 हेक्टेयर भूमि का अधिग्रहण करेगी, का किसान संगठनों



फोटो: गौरी इमोजेज

और यहां तक कि आरएसएस समर्थित ‘भारतीय किसान संघ’ ने इतना कड़ा विरोध किया कि यादव को 17 नवंबर 2025 को इस अधिसूचना को वापस लेने के लिए मजबूर होना पड़ा।

मुख्यमंत्री यादव और भाजपा विधायक चिंतामणि मालवीय के बीच का सार्वजनिक विवाद हाल ही में फिर सामने आ गया। जब मालवीय ने कथित तौर पर महाकाल मंदिर के ठीक बगल में ‘यूटोपिया बॉटल एंड रिसॉर्ट प्राइवेट लिमिटेड’ के नाम पर 45,000 वर्ग फुट जमीन खरीदी, तो लोकयुक्त, आर्थिक अपराध शाखा और हाईकोर्ट में शिकायत की गई कि मंदिर की मौजूदा पार्किंग की जगह पर एक पांच सितारा होटल बनाने की तैयारी है। इसके जवाब में मालवीय ने आरोप लगाया कि यादव के दिसंबर 2013 में पद संभालने के बाद, उनके परिवार और उनकी रियल एस्टेट कंपनियों ने दो वर्षों में कम से कम



काशी विश्वनाथ कॉरिडोर और शहर के सौंदर्यीकरण के नाम पर पूरे वाराणसी में ढहाने और नए निर्माण ने एक तरह से इलाके की सुंदरता तहस-नहस ही कर दी है

फोटो: गौरी इमोजेज

137 प्लॉट खरीदे-जो 168 एकड़ से अधिक जमीन है। भोपाल के एक राजनीतिक विश्लेषक ने नाम न छापने की शर्त पर बताया, ‘महाकाल लोक कॉरिडोर 1,200 करोड़ रुपये की लागत से बन रहा है। विकास कार्यों के लिए सरकारी फंड से और 400 करोड़ रुपये आवंटित किए गए हैं। नेताओं और नौकरशाहों का 35 फीसद का कमीशन ही 350 करोड़ रुपये बैठता है। निर्माण कार्य इतना घटिया स्तर का है कि पिछले साल मंदिर परिसर में स्थापित की गई मूर्तियां और भित्तिचित्र एक ही जोरदार बारिश में ढह गए।’

सरकारों का कॉरिडोर बनाने का यह जुनून, अब वृंदावन के बाँके बिहारी मंदिर तक पहुंच गया है। सुप्रीम कोर्ट ने बाँके बिहारी कॉरिडोर के निर्माण और भूमि अधिग्रहण के लिए मंदिर के फंड से 500 करोड़ रुपये के उपयोग को हरी झंडी दे दी थी। पर्याप्त बर्फ जमा न होने के कारण, गुफा ने उन तापीय स्थितियों को खो दिया जो पूरी तीर्थयात्रा के मौसम के दौरान बर्फ के इस स्वरूप को बनाए रखने के लिए आवश्यक होती हैं। यात्रा शुरू होने के कुछ ही दिनों के भीतर इसके परिणाम पूरी तरह सामने आ गए।

साल 2026 की ये घटनाएं कोई अकेली या छिटपुट घटनाएं नहीं। ये बेहद चिंताजनक जलवायु संबंधी ढर्रे में पूरी तरह फिट बैठती हैं। 2024 की गर्मियों के दौरान, कश्मीर ने जून और जुलाई में भीषण लू का सामना किया था, जिसे विशेषज्ञों ने बर्फ के शिवालिंग के असामान्य रूप से तेजी से पिघलने से जोड़ा था। साल 2025 में, मौसम का यही अनिश्चित मिजाज समान रूप से देखने को मिला था। रिपोटों के अनुसार, बर्फबारी के बाद न्यूनतम तापमान में बहुत कम समय के भीतर लगभग छह डिग्री सेल्सियस की वृद्धि देखी गई, जो हिमालयी क्षेत्र में बढ़ती जलवायु अस्थिरता का एक और स्पष्ट संकेत था।

बार-बार होने वाली ये विसंगतियां उसी बात को पुख्ता करती हैं जिसकी चेतावनी वैज्ञानिक लंबे समय से दे रहे हैं: हिमालय दुनिया के सबसे अधिक जलवायु-संवेदनशील पर्वतीय तंत्रों में से एक है। बढ़ता तापमान ग्लेशियरों के सिकुड़ने की गति को तेज कर रहा है, बर्फबारी के ढर्रे को बदल रहा है और उन पारिस्थितिकी तंत्रों को अस्थिर कर रहा है जो हजारों वर्षों में विकसित हुए हैं। इस पूरी घटना को समझने में सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक खुद इस गुफा से जुड़े विस्तृत और दीर्घकालिक पर्यावरणीय आँकड़ों का उपलब्ध न होना है। यद्यपि अमरनाथ गुफा एक अत्यधिक संवेदनशील पारिस्थितिकी क्षेत्र में स्थित है, फिर भी स्थानीय स्वचालित मौसम केन्द्रों से मिलने वाले सार्वजनिक आँकड़े बेहद सीमित हैं। भारतीय मौसम विज्ञान विभाग मुख्य रूप से जिला-स्तरीय पूर्वानुमान और अल्पकालिक मौसम अपडेट प्रदान करता है, न कि इस गुफा के विशिष्ट दीर्घकालिक जलवायु रिकॉर्ड।

इसके परिणामस्वरूप, शोधकर्ताओं को अक्सर श्रीनगर, पहलगाम और अर्नतनाग जैसे नजदीकी केन्द्रों के अवलोकनों पर निर्भर रहना पड़ता है। गुफा के भीतर की स्थितियों का आकलन करने के लिए वे इन आँकड़ों में आर्द्रता, हवा और बर्फबारी की स्थानीय जानकारी को जोड़ते हैं। यह कमी भारत के सबसे पर्यावरण-संवेदनशील तीर्थस्थलों में से एक की निरंतर वैज्ञानिक निगरानी की तत्काल आवश्यकता को रेखांकित करती है।

बदलता मौसम इस पूरी त्रासदी की एकमात्र कहानी नहीं है। गुफा की इस नाजुक सूक्ष्म-जलवायु पर तीर्थयात्रा के दौरान होने वाली मानवीय गतिविधियों के पैमाने का भी गहरा असर पड़ रहा है। अध्ययनों से पता चलता है कि गुफा के भीतर मौजूद प्रत्येक व्यक्ति लगभग 100 वॉट की शारीरिक गर्मी उत्सर्जित करता है। जब बहुत कम समय के भीतर हजारों-लाखों तीर्थयात्री उस संकरे और बंद स्थान से गुजरते हैं, तो वहां की संचयी गर्मी और उमस का बढ़ना तय है।

इसके परिणाम पूरी तरह अनुमान के मुताबिक ही सामने आते हैं। बढ़ता तापमान बर्फ के ढांचे के पिघलने की प्रक्रिया को और तेज कर देता है।

इस समस्या को और गंभीर बनाने का काम मशीनी गतिविधियां, वाहनों की आवाजों, निर्माण कार्य, बिजली उत्पादन और अजिब तीर्थयात्रियों की संभालने के लिए तैयार किया जा रहा बुनियादी ढांचा करते हैं। यद्यपि ये सुविधाएं निःसंदेह यात्रा की सुगमता को बढ़ाती हैं, लेकिन वे इस यात्रा

जलवायु परिवर्तन के दौर में आस्था और जिम्मेदारी

अमरनाथ का तेजी से पिघलता बर्फ का शिवालिंग चेतावनी है कि आस्था को प्रकृति का सम्मान करना ही होगा

फोटो: गौरी इमोजेज



लोगों की ज्यादा भीड़ के कारण अमरनाथ गुफा मंदिर में बर्फ का शिवालिंग तेजी से पिघल गया। इस साल भक्तों के लिए खुलने के शुरुआती चार दिनों में ही यह सिकुड़कर मुश्किल से एक फीट का रह गया

पंकज वतुर्वेदी

वार्षिक अमरनाथ यात्रा केवल धार्मिक तीर्थयात्रा नहीं। करोड़ों हिन्दुओं के लिए यह भारत की सबसे पवित्र आध्यात्मिक यात्राओं में से एक है। इसके साथ ही, यह कश्मीर के हजारों परिवारों के लिए आजीविका का साधन भी है और हिमालय के इस बेहद नाजुक पारिस्थितिकी तंत्र की सेहत को मापने का एक महत्वपूर्ण पैमाना भी।

साल 2026 की यह 57 दिवसीय तीर्थयात्रा 3 जुलाई को शुरू हुई। पाँचवें दिन के अंत तक 1,13,800 से अधिक तीर्थयात्री पवित्र गुफा के दर्शन कर चुके थे। लगभग इसी समय, ऐसी रिपोर्ट सामने आई कि प्राकृतिक रूप से बनने वाला बर्फ का

शिवालिंग करीब 90 फीसद तक पिघल चुका है और सिकुड़कर बमुश्किल एक फीट का रह गया है।

श्रद्धालुओं ने वहां जो कुछ देखा, वह केवल एक पवित्र प्रतीक का समय से पहले पिघल जाना भर नहीं था। यह एक स्पष्ट चेतावनी थी कि मानवीय दबाव (और उपस्थिति) के साथ मिलकर जलवायु परिवर्तन भारत के सबसे संवेदनशील पर्वतीय पारिस्थितिकी तंत्रों में से एक को भारी नुकसान पहुंचा रहा है।

अमरनाथ गुफा के भीतर बर्फ का शिवालिंग किसी के द्वारा गढ़ा या तराश नहीं जाता। यह प्राकृतिक रूप से बनने वाला बर्फ का ‘स्टैलेग्माइट’ (नीचे से ऊपर की ओर जमा होने वाला हिम-स्तंभ) है। यह बेहद

संवेदनशील और बारीक प्रक्रिया के तहत बनता है, जिसमें गुफा की छत से गिरने वाली पानी की बूंदें लगातार शुन्य से नीचे रहने वाले तापमान में जम जाती हैं। यह असाधारण घटना गुफा के भीतर एक अत्यंत स्थिर सूक्ष्म-जलवायु पर निर्भर करती है। जब उस सूक्ष्म-जलवायु में थोड़ा सा भी व्यवधान आता है, तो यह प्राकृतिक प्रक्रिया पूरी तरह बाधित हो जाती है।

इस साल, कश्मीर में मई और जून के दौरान असामान्य रूप से अधिक तापमान दर्ज किया गया, जिससे गर्मी के स्तर ने कई पुराने रिकॉर्ड तोड़ दिए। पिछली सर्दियों के दौरान कम बर्फबारी होने का मतलब यह भी था कि गुफा के आसपास मिलने वाली प्राकृतिक ठंडक सामान्य से काफी कम

के पारिस्थितिक पदचिह्न को भी बढ़ा देती हैं, जिससे पहले से ही नाजुक पर्यावरण पर अतिरिक्त दबाव पड़ता है।

बर्फ के शिवालिंग का यह सिकुड़ता आकार एक असहज करने वाला लेकिन अपरिहार्य सवाल खड़ा करता है: क्या हम उस चीज को बचाने के लिए अपनी प्रथाओं और तौर-तरीकों में बदलाव करने के लिए तैयार हैं जिसका हम सम्मान करते हैं?

तीर्थयात्राओं का मूल्यांकन केवल इस बात से नहीं किया जाना चाहिए कि एक पवित्र स्थान पर कितने लोग पहुंचे। उन्हें पारिस्थितिक संतुलन के प्रति सम्मान को भी प्रदर्शित करना चाहिए। पर्यावरण विशेषज्ञों ने गुफा के भीतर की स्थितियों को स्थिर बनाए रखने में मदद के लिए दैनिक तीर्थयात्रियों की संख्या को सीमित करने की बार-बार सिफारिश की है।

गुफा के ठीक आसपास के क्षेत्र में मशीनी गतिविधियों को न्यूनतम किया जाना चाहिए, और भविष्य के बुनियादी ढांचे के विकास को विशुद्ध रूप से रसद के बजाय पारिस्थितिक विचारों द्वारा निर्देशित किया जाना चाहिए। जलवायु अनुकूलन तीर्थयात्रा प्रबंधन का एक अभिन्न हिस्सा होना चाहिए, विशेष रूप से हिमालय में, जहां पर्यावरणीय सीमाएं असाधारण रूप से नाजुक हैं।

धार्मिक आस्था और पर्यावरण संरक्षण को एक-दूसरे के विरोधी प्राथमिकताओं के रूप में नहीं देखा जा सकता। वे एक दूसरे पर निर्भर हैं। यदि आने वाली पीढ़ियों को बर्फ के शिवालिंग को उसके प्राकृतिक रूप में देखना है, तो भारत को तीर्थयात्रा के एक ऐसे मॉडल को अपनाना होगा जो आध्यात्मिक रूप से संतोषजनक होने के साथ-साथ पर्यावरण के अनुकूल भी हो।

अमरनाथ गुफा हमें एक गहरा सच याद दिलाती है। हम प्रकृति के मालिक नहीं बल्कि उसके संरक्षक हैं। हमारी भक्ति अमरनाथ में उस अद्भुत घटना को ही नष्ट न कर दे हम जिसे देखने वहां जाते हैं। वार्षिक तीर्थयात्रा का प्रबंधन अब केवल एक प्रशासनिक कार्य बनकर नहीं रह सकता। इसे हिमालय में जलवायु लचीलेपन और पारिस्थितिक संरक्षण की एक व्यापक राष्ट्रीय रणनीति का हिस्सा बनना ही होगा। तभी आस्था का यह असाधारण प्रतीक आने वाली पीढ़ियों को प्रेरित करतरे रहेगा। ■

‘चौहान’ के टीज़र में क्या नहीं दिखाया गया है

फिल्म में पेलेट गन को सीमित बल का इस्तेमाल बताया गया है। लेकिन कश्मीर के आंकड़े कुछ और ही बयां करते हैं



आकार पटेल

एक नई फिल्म ‘चौहान’ का टीज़र या कहें कि ट्रेलर रिलीज हुआ है। यह फिल्म भी उन फिल्मों की कड़ी में एक और फिल्म है जो बहुसंख्यकवादी प्रोपेगैंडा को बढ़ावा देती हैं। इसकी शुरुआत ऐसी जगह से होती है जिसे भारत सरकार अपनी कहानियों के लिए पसंद करती है – मसलन पुलवामा की एक सड़क, हवा में उड़ते पत्थर और सुरक्षा बलों की तैनाती। वॉयसओवर में आंसू गैस को बेअसर बताया जाता है क्योंकि प्रोटेक्शन मार्स्क ऑनलाइन आसानी से मिल जाते हैं। वॉटर कैनन को भी टेम्पेरी सोल्युशन कहा गया है।

फिल्म इशारा करती है कि दरअसल में कुछ ज्यादा कड़ाई की जरूरत है: भीड़ पर 12-गेज शॉटगन से बर्डशॉट (छोटे छर्रे) चलाना। इस मुद्दे पर हमें थोड़ा रुककर सोचना चाहिए। भारत में बहुसंख्यकवाद का नैरेटिव अब इस भरोसे पर चल रहा है कि ऐसे दावों की कभी जांच-पड़ताल नहीं होती। तो आइए, हम जांच करते हैं।

2017 में, एमनेस्टी इंटरनेशनल इंडिया ने ऐसे 88 लोगों का ब्यौरा इकट्ठा किया जिनकी आंखों की रोशनी 2014 से 2017 के बीच जम्मू-कश्मीर पुलिस और सेंट्रल रिजर्व पुलिस फोर्स (सीआरपीएफ) द्वारा चलाई गई शॉटगन की वजह से चली गई थी। कुछ लोग तो ठीक हो गए, लेकिन कई ठीक नहीं हो पाए। एक कारतूस से 360 से 600 धातु की गोलियां निकलकर फैलती हैं और यह तय नहीं किया जा सकता कि वे कहां जाकर लगेगी। पेलेट गन से होने वाली चोटें बिना किसी खास निशाने के लगती हैं क्योंकि शॉटगन की बैरल राइफल वाली नहीं होती और उनसे निकलने वाली गोलियों पर कोई नियंत्रण नहीं होता।

यह इस बात से साफ है कि जिन 88 लोगों से हमने बात की, उनमें से चौदह प्रदर्शनकारी नहीं थीं, बल्कि ऐसी महिलाएं थीं जो अपने ही घरों के अंदर घायल हुई थीं। सुरक्षा बलों के जवानों का भी उन हथियारों से लगी चोटों के लिए इलाज किया गया है जिन्हें उनके साथियों ने ही चलाया था; इनका इस्तेमाल इतना खतरनाक है।

और फिर इंशा मुश्ताक नाम की चौदह साल की एक लड़की थी, जिसने 11 जुलाई 2016 की शाम को

कड़वी सच्चाई यह है कि कश्मीर में

सरकार की ओर से कभी भी संयम नहीं

बरता गया और न ही फोर्स की कोई

कमी रही है। देखना यह चाहिए कि

तीन दशकों से ज्यादा समय तक फोर्स

के इस्तेमाल ने इस इलाके पर क्या

असर डाला है

बाजार अर्थव्यवस्था के लिए भी बड़ा खतरा है एकाधिकार

क्रोनी कैपिटलिज़्म के नए दौर में क्या चंद कॉरपोरेट दिग्गजों के सामने लाचार हो रही हैं नियामक संस्थाएं?

अमल चंदा

एक समय था जब भारतीय पूंजीवाद को आर्थिक उदारीकरण की एक कामयाब मिसाल के तौर पर पेश किया जाता था। 1991 के ऐतिहासिक सुधारों ने दशकों पुराने ‘लाइसेंस-परमिट राज’ को उखाड़ फेंका और देश को एक अधिक प्रतिस्पर्धी बाजार का भरोसा दिया। लेकिन उसके तीन दशकों के बाद आज भारत की इसी आर्थिक विकास यात्रा पर एक बड़ा और गंभीर सवाल खड़ा हो गया है— क्या मुद्दी भर बड़े व्यावसायिक समूह हमारे बाजारों, बुनियादी ढांचे और सार्वजनिक नीतियों पर ज़रूरत से ज्यादा नियंत्रण हासिल कर चुके हैं?

यह समझने के लिए किसी विशेष विशेषज्ञता की जरूरत नहीं है कि आज भारतीय अर्थव्यवस्था के सबसे महत्वपूर्ण और रणनीतिक क्षेत्रों पर किन दो कॉरपोरेट दिग्गजों का कब्ज़ा है। बंदरगाह, हवाई अड्डे, टेलीकॉम, डिजिटल सेवाएं, डेटा इन्फ्रास्ट्रक्चर, पेट्रोकेमिकल्स, बिजली, लॉजिस्टिक्स, हरित ऊर्जा, खुदरा व्यापार से लेकर मीडिया तक— हर जगह यही दो नाम छाप हुए हैं। भारतीय व्यापार के इतिहास में इनके विस्तार की रफ्तार और पैमाने की कोई दूसरी मिसाल नहीं मिलती। कई लोग इन्हें भारत के ‘राष्ट्रीय नायक’ मानते हैं, जिन्होंने भारत को वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धी बनाया। लेकिन इनके इस अप्रत्याशित उत्थान ने आर्थिक शक्ति के एक ही जगह सिमटने, वास्तविक प्रतिस्पर्धा खत्म होने और निजी तिजोरियां भरने में सरकारी नीतियों की भूमिका को लेकर गंभीर चिंताएं पैदा कर दी हैं।

साठगांठ वाला पूंजीवाद केवल संकीर्ण कानूनी दायरे में होने वाला भ्रष्टाचार नहीं है। यह एक ऐसी राजनीतिक अर्थव्यवस्था को परिभाषित करता है जहां सत्ता तक पहुंच ही सबसे बड़ा व्यावसायिक लाभ बन जाती है; जहां नियम-कानून, लाइसेंसिंग, सरकारी वित्त पोषण और सार्वजनिक कंपनियां आनुपातिक रूप से सत्ता प्रतिष्ठान के करीबियों के पक्ष में झुकी दिखती हैं। चिंता इस बात की नहीं है कि सफल व्यवसाय बड़े हो रहे हैं— दक्षता के साथ आकार का बढ़ना स्वाभाविक है। चिंता तब शुरू होती है जब यह विशाल आकार ही पूंजी, सरकारी नीतियां और देश के संसाधनों पर विशेषाधिकार पाने का जरिया बन जाता है, जिससे बाजार में दूसरों के लिए मुकाबला करना नामुमकिन हो जाता है।

गौतम अडानी का उत्थान आज इसी चिंता का सबसे बड़ा प्रतीक बन चुका है। अडानी समूह ने जिस तेजी से बंदरगाह से लेकर हवाई अड्डों, बिजली परियोजना, डेटा सेंटर, हरित ऊर्जा, मीडिया, सीमेंट और रक्षा क्षेत्र में पैर पसारें हैं, वह हैरान करने वाला है। ‘अडानी पोर्ट्स’ के जरिये देश के लगभग एक-चौथाई कार्गो व्यापार पर नियंत्रण करने

के बाद यह समूह देश का सबसे बड़ा निजी हवाई अड्डा संचालक बन गया। अहमदाबाद, लखनऊ, मंगलुरु, जयपुर, गुवाहाटी, तिरुवनंतपुरम और मुंबई जैसे देश के सबसे प्रमुख अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डों का मालिकाना हक या नियंत्रण इसी समूह के पास है। देश की आर्थिक राजधानी मुंबई का मौजूदा छत्रपति शिवाजी महाराज इंटरनेशनल एयरपोर्ट हो या निर्माणाधीन नवी मुंबई इंटरनेशनल एयरपोर्ट— दोनों पर इसी का नियंत्रण है।

हवाई अड्डे और बंदरगाह सिर्फ व्यावसायिक संपत्तियां नहीं हैं, वे देश के बुनियादी ढांचे के रणनीतिक प्रवेश द्वार हैं। जब ऐसे राष्ट्रीय महत्व की संपत्तियां किसी एक समूह के हाथों में सिमटने लगती हैं, तो नीति-निर्माण में उनके अत्यधिक प्रभाव को लेकर सवाल उठना लाजिमी है। आलोचकों ने आगाह भी किया है कि यह स्थिति देश की वित्तीय स्थिरता और उन करोड़ों भारतीयों के लिए बेहद खतरनाक है जिनकी बचत का प्रबंधन ये संस्थान करते हैं, लेकिन इन चेतावनियों को अनसुना कर दिया गया। 2023 में अडानी समूह द्वारा शेयर बाजार में हेरफेर और लेखा धोखाधड़ी के संबंध में सामने आए हिंडनबर्ग खुलासे के बाद कई अन्य चिंताजनक विवरण

उजागर हुए। इनमें एलआईसी और भारतीय स्टेट बैंक जैसे सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थानों का अडानी से जुड़ी संपत्तियों में भारी निवेश शामिल था।

दूसरी तरफ, मुकेश अंबानी की अगुवाई वाली ‘रिलायंस इंडस्ट्रीज’ संकेंद्रण के एक दूसरे रूप का प्रतिनिधित्व करती है। अडानी के इन्फ्रास्ट्रक्चर-आधारित मॉडल के उलट, रिलायंस ने पहले पेट्रोकेमिकल्स में दबदबा बनाया और फिर वहां से टेलीकॉम, रिटेल, डिजिटल कॉमर्स और मीडिया प्लेटफॉर्म पर नियंत्रण किया। जियो की लॉन्चिंग ने भारत के टेलीकॉम बाजार का नक्शा ही बदल दिया। उपभोक्ताओं को सस्ते डेटा का भारी फायदा मिला और देश का डिजिटल रूपांतरण तेज हुआ, लेकिन इसका दूसरा पहलू यह रहा कि पूरा टेलीकॉम सेक्टर सिमटकर सिर्फ दो-तीन बड़े खिलाड़ियों का मैदान बन गया, जिससे बाजार प्रतिस्पर्धा कमजोर हो गई।

रिलायंस की खुदरा और डिजिटल महत्वाकांक्षाएं भी इसी तरह प्रकट करती हैं कि कैसे विशाल आकार अनुचित लाभ की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। नेटवर्क इंडस्ट्री में आकर ही ताकत है। एक प्लेटफॉर्म जितने अधिक उपयोगकर्ताओं को जोड़ता जाता है, प्रतिस्पर्धियों के लिए उसे चुनौती देना उतना ही कठिन हो जाता है। यह बाजार के वर्चस्व का एक ऐसा ‘फोडबैक लूप’ बनाता है जिससे निपटने में पारंपरिक एकाधिकार-विरोधी कानूनी ढांचे अक्सर असमर्थ सिद्ध होते हैं।

सवाल यह नहीं है कि अडानी और अंबानी कुशल बिजनेस चलाते हैं या नहीं; दोनों ने ही असाधारण पैमाने पर बड़ी परियोजनाओं को जमीन पर उतारा है। सवाल यह है कि क्या भारत का संस्थागत ढांचा वास्तविक प्रतिस्पर्धा को पोषित करता है?

भारतीय अर्थशास्त्रियों और बुद्धिजीवियों ने लंबे समय से आर्थिक शक्ति के अत्यधिक संकेंद्रण के खतरों के प्रति आगाह किया है। जैसा कि रिजर्व बैंक के पूर्व गवर्नर रघुराम राजन ने सचेत किया था: ‘साठगांठ वाला पूंजीवाद निजी लाभ के लिए सार्वजनिक पद के दुरुपयोग करता है’। यह चेतावनी खास तौर पर उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं के मामले में प्रासंगिक है।

सार्वजनिक संपत्तियों का मौद्रिकीकरण इस परिदृश्य को और अधिक जटिल बना देता है। जैसे-जैसे सरकार निजीकरण और बुनियादी ढांचे को पट्टे पर देने की प्रक्रिया तेज कर रही है, गहरी पैठ रखने वाले बड़े कॉर्पोरेट समूहों को इसमें अत्यधिक लाभ मिल रहा है। छोटी फर्में उस पैमाने पर बोली लगाने में सक्षम नहीं हैं। यह संकेंद्रण के प्रति एक संरचनात्मक झुकाव पैदा करता है, जहां रणनीतिक संपत्तियां अंततः कुछ प्रभावी खिलाड़ियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती हैं।

कश्मीर में अपने गांव में बाहर देखने के लिए घर की खिड़की खोली थी। लेकिन उसके बाद वह फिर की कोई सड़क या कोई भी चीज नहीं देख सकी। वह पूरी तरह नेत्रहीन हो गई थी: डॉक्टरों ने इसे अब तक का सबसे भयावह मामला बताया।

राज्य के सरकारी आंकड़ों के अनुसार, जुलाई 2016 और फरवरी 2017 के बीच 6,221 लोग घायल हुए, जिनमें से 782 लोगों की आंखों में चोट लगी। संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकार कार्यालय ने पैलेट शॉटगन को ‘कश्मीर में इस्तेमाल होने वाले सबसे खतरनाक हथियारों में से एक ’ बताया और भीड़ को नियंत्रित करने के लिए भारत के हथियारों के जखीरे से इसे हटाने की सिफारिश की। जब भारत सरकार से पूछा गया कि वह बच्चों के चेहरों पर गोली क्यों चलाती है, तो उसने राष्ट्रीय सुरक्षा का हवाला देते हुए जवाब देने से इनकार कर दिया। साफ है कि सबूतों के आधार पर इसे ‘सीमित नुकसान ’ नहीं कहा जा सकता।

‘चौहान’ फिल्म के टीज़र में कहा गया है कि सीमित बल के इस्तेमाल से कोई नतीजा नहीं निकलता। यह दावा गलत है; क्योंकि कश्मीर में सरकार की ओर से कभी भी संयम नहीं बरता गया और न ही फोर्स की कोई कमी रही है। यह स्थिति दिखाती है कि तीन दशकों से ज्यादा समय तक फोर्स के इस्तेमाल ने इस इलाके पर क्या असर डाला है। जो सरकार किसी उल्लंघन का जवाब और भी गंभीर उल्लंघन से देती है, वह लोगों का भरोसा नहीं जीत पाती, बल्कि उसे खो देती है।

प्रदर्शनकारी सड़कों पर इसलिए उतरते हैं क्योंकि भारतीय संसद के दरवाजे उनके लिए बंद कर दिए गए हैं। और ऐसा सिर्फ कश्मीर में ही नहीं हो रहा है। भारत सरकार की ‘प्री-लेजिस्लेटिव कंसल्टेशन पॉलिसी’ (कानून बनाने से पहले सलाह-मशविरें की नीति), जिसे 2014 में अपनाया गया था, कहती है कि सभी प्रस्तावित कानूनों पर जनता के साथ 30 दिनों तक चर्चा की जानी चाहिए। फिर भी, पीआरएस लेजिस्लेटिव रिसर्च के आंकड़ों के मुताबिक, 2014 से अब तक पेश किए गए 301 बिलों में से 227 पर जनता से कोई सलाह-मशविरा नहीं किया गया। जिन 74 बिलों को सार्वजनिक किया गया, उनमें से कम-से-कम 40 बिलों के मामले में 30 दिन की समय-सीमा का पालन नहीं किया गया। ‘लोकतंत्र की जननी’ अपने ही परिवार के साथ परिवार के मामलों पर चर्चा नहीं करती।

इस बात का एक और सबूत कि हम सिर्फ नाम के लिए संसदीय लोकतंत्र हैं: स्टैंडिंग कमेटीयों को भेजे जाने वाले बिलों की हिस्सेदारी 2014 से पहले के 71 प्रतिशत से घटकर 20 प्रतिशत से भी कम हो गई है।



मुंबई के धारावी में अडानी समूह द्वारा पुनर्निर्माण योजना के नाम पर लोगों को बेदखल किए जाने की आशंकाओं को लेकर प्रदर्शन

फोटो: लोदी इकोन

दिसंबर 2025 में, भारत सरकार से पूछा गया कि क्या वह इस पॉलिसी के लागू होने पर नजर रख रही है; सरकार का जवाब था कि उसने कभी इस पॉलिसी का मूल्यांकन नहीं किया और न ही इस बात का कोई रिकॉर्ड रखा कि इसे किसने माना। तेजी से ऐसा हो रहा है कि सरकार के सबसे ज्यादा समस्या वाले आदेश कानून के तौर पर नहीं, बल्कि नियमों और सलाहों के तौर पर आते हैं। इन्हें एंजीक्यूटिव (कार्यपालिका) बिना किसी विधायी या सार्वजनिक सलाह-मशविरें के तैयार करती है।

सरकार को यह याद दिलाने की जरूरत है कि कोई देश खुद को लोकतंत्र तो नहीं कह सकता, जब वह एक-एक कानून, नियम और एडवाइज़री के जरिये इस शब्द के असल मतलब को ही खोखला कर रहा हो। ऐसा करते हुए सरकार ने एक नया शब्दकोश तैयार कर लिया है: असहमति जताने वाला ‘देश-विरोधी’ है, एक्टिविस्ट ‘अर्बन नक्सल’ है, प्रदर्शनकारी ‘आंदोलनजीवी’ है, रिपोर्टर ‘प्रेसिस्ट्यूट’ है और अंतिम संस्कार में शामिल युवा ‘पत्थरबाज’ है।

एक बार जब प्रोपेगैंडा के जरिये ये बातें भारतीय सोच में घर कर जाती हैं, तो सरकार के कामों के बचाव की जरूरत नहीं पड़ती। एक फिल्म का टीज़र जो किसी अपंग बनाने वाले हथियार को ‘बाहदुरी भरे संयम’ के तौर पर दिखाता है, वह उस सोच या शब्दावली को ही अपना रहा होता है। असल में, वह उसी सोच को ऐसे माध्यम में आसानी से पेश कर रहा है जिससे लोगों की सहमति निर्माण के लिए ही बनाया गया है।

खिड़की से बाहर देखने की वजह से अंधी हो गई लड़की को देखकर उसे ‘सीमित नुकसान’ कहना हिम्मत की बात नहीं, बल्कि इसका उलटा है। जब एमनेस्टी की रिपोर्ट आई, तो मैं अपने साथी रघु के साथ कश्मीर के पुलिस प्रमुख एस पी वैद्य से मिलने गया; वह आजकल टिवटर पर काफी एक्टिव रहते हैं। श्रीनगर में पुलिस हेडक्वार्टर और वहां काम करने वाले अधिकारियों की पृष्ठभूमि काफी कुछ बताने वाली थी, और मैं इस बारे में किसी और समय लिखूंगा।

वैद ने हमारी खातिरदारी करते हुए हमारी रिपोर्ट की एक कॉपी ली। उन्होंने उन बातों पर ध्यान दिया जिनमें हमने बताया था कि उनके लोगों द्वारा प्रदर्शनकारियों पर शॉटगन चलाने से क्या नुकसान हुआ था। उन्होंने हमारी बातों का विरोध तो नहीं किया, लेकिन उन्हें यह समझ नहीं आया कि इस हथियार का इस्तेमाल क्यों बंद कर दिया जाना चाहिए। मैंने उनसे कहा कि यह ऐसा हथियार है जिसका इस्तेमाल भारत में कहीं और भीड़ को काबू करने के लिए नहीं किया जाता है। उन्होंने जवाब दिया कि ‘इसका इस्तेमाल किया जाना चाहिए।’ ■

इसके जवाब में नीतिगत सुधार के रूप में एकाधिकार-विरोधी कानून आया। उसका संदेश स्पष्ट था: पूंजीवाद को प्रतिस्पर्धा की आवश्यकता है और प्रतिस्पर्धा को सुरक्षात्मक घेरे की।

इस मौजूदा एकाधिकारवादी मॉडल के समर्थक तर्क देते हैं कि भारत को तेजी से बुनियादी ढांचे के निर्माण के लिए ऐसे बड़े समूहों की जरूरत है, ठीक वैसे ही जैसे बड़े पैमाने और सरकारी सरपरस्ती ने चीन के औद्योगिक उत्थान को गति देने में मदद की थी। लेकिन बिना प्रतिस्पर्धा के इतना बड़ा आकार नबाकार को मार देता है और पूरी आर्थिक प्रणाली को इतना संवेदनशील बना देता है जहां किसी एक विशाल खिलाड़ी का धराशायी होना पूरे देश के लिए राष्ट्रीय संकट बन सकता है।

चिंता सिर्फ अडानी और अंबानी के मौजूदा दबदबे की नहीं है; बड़ी चिंता यह है कि जैसे-जैसे आर्थिक शक्ति का यह संकेंद्रण और गहरा होगा, क्या भारत की लोकतांत्रिक संस्थाएं अपनी पारदर्शिता, नियामक स्वतंत्रता और निष्पक्षता को सुरक्षित रख पाएंगी? ■

अमल चंदा नीति विश्लेषक और स्तंभकार हैं

पक रही है प्रतिरोध की नई तहज़ीब

प्रेम की भाषा राजनीति में फिर आ रही है। बन रही हैं मोहब्बत की दुकान

मीनाक्षी नटराजन

विगत दिनों भारतीय राजनीति के पटल पर एक शब्द की पुनर्स्थापना हुई है। इंडिया गठबंधन की बैठक में लोकसभा के नेता प्रतिपक्ष ने “रेसिस्टेंस”का आगाज किया। हिन्दी में रेसिस्टेंस को प्रतिरोध कहा जाए या सत्याग्रह। यह बहस हो सकती है। प्रति के मायने नकारात्मक भी होते हैं। मगर इससे इतर कुछ और भी है, जो बहुत सुकून भरा है। भला प्रतिरोध में सुकून कैसा! यह सवाल लाजमी है।

ऐसे में प्रतिरोध से जुड़े बहुत से प्रसंग याद आते हैं। मीराबाई के गीत नृत्य, आँडाल की पंक्तिया, सोयराबाई के अवंग, “अवघा रंग एक झाला” में प्रतिरोध है, तो प्रेम भी है। आखिर आज भी प्रेम से व्यवस्था डरती है ना! प्रेम से बढ़कर क्या ही प्रतिरोध हो सकता है?

रेसिस्टेंस या प्रतिरोध हकीकत की कोख से उपजे तो हक्क की लड़ाई में तब्दील होता है। वही सत्याग्रह है। यह अधिकार से विराट है। बिना अभ्यास के संभव नहीं। इंडिया गठबंधन की बैठक में यह भी रखा गया कि पुरातन तरीकों से प्रतिरोध हो नहीं सकेगा। जाहिर है कि प्रतिरोध एक दिवसीय कार्यक्रम नहीं है। वह सनसन-खीज खबर नहीं है। सालों की तपिश से तैयार होता है। तिस पर भी चौरी चौरा सी घटना घट जाती है। तब सत्यान्वेपी को कहना पड़ता है कि अभी हमारी तैयारी पूरी नहीं थी। हिमालय सी भूल हो गई। यह तैयारी अभ्यास है।

पिछले कुछ वर्षों में रेसिस्टेंस के नए अभ्यास मिले हैं। बहुत प्रयत्नपूर्वक ढूंढे नहीं, पर तार जुड़ते चले गए। यह अभ्यास नवीन नहीं है। पहली बार इजाद नहीं हुए। राजनीतिक भूमि में पुनः दिखाई पड़ने लगे। 2021 में चरखा अभ्यास फिर शुरू हुआ। तब सोचा नहीं था कि किसी दिन यह पूरे देश में फैलेगा। राजनीतिक प्रतिरोध के स्त्रीगामी, संपूर्ण रूप से अहिंसक अभ्यास के बतौर इतना इस्तेमाल होगा। बार-बार सूत कट जाता, धागा मोटा या कमजोर बनता। सबको लगता था कि थोड़ा बहुत सूत काटेंगे, माला बनेगी।

फिर कहानी बदल गई। एक दिन महाराष्ट्र की महिला साथी ने चरखे को सार्वजनिक धरने में चलाया। पुलिस ने उससे कहा कि कुछ भी करो, नारे लगाओ, जो मर्जी करो। पर यह मत चलाओ। क्या औपनिवेशी हुकूमत की आदत अभी बदली नहीं, कि लाठी लैस पुलिस चरखे से खौफज़दा हो गई। एक

घटना और घटी। सुदूर हिमाचल में मनरेगा बन्दी के विरुद्ध आंदोलन चल रहा था। धरने से थोड़ी दूरी पर बापू की प्रतिमा थी। गांव की सरपंच रह चुकी महिला को कोई तरज़ीह नहीं दी गई। जबकि उसके कार्यकाल में मनरेगा का काम उस गांव में अभूतपूर्व ढंग से हुआ था। महिला ने किसी से कुछ नहीं कहा। अपना चरखा उठाया और बापू प्रतिमा के नीचे शांति से बैठकर सूत कटाई करने लगी। थोड़ी देर में मीडिया, प्रशासन और धीरे-धीरे धरने पर बैठे साथी उसके इर्दगिर्द आकर बैठ गए। उसने इतना कहा कि मजदूर, किसान के पसीने से सूत निकलता है। सो मैं मनरेगा बहाली के लिए यह प्रतिरोध कर रही हूं।

चुनाव आयोग की धांधली, सत्ता गठजोड़ के खिलाफ देश के तीस नगरों में चरखा चला। यह पूछा जा सकता है कि इससे क्या बदला? क्या मिला? चुनाव आयोग नहीं बदला। मगर बदलाव का नूतन अभ्यास मिला। राजनीतिक आंदोलन का व्यवहार बदला। हमेशा नितांत पुरुष प्रधान मांसलता से भरपूर आंदोलन, धरना स्थल कुछ-कुछ स्त्रीगामी

हो चला। धरना स्थल पर बराबरी से महिलाएं बैठकर सूत कात सकीं। उनकी नैसर्गिक जरूरत का ध्यान रखा गया।

ऐसा ही एक सुंदर अभ्यास धीरे-धीरे पक रहा है। क्रांति नाम के महिला शिविर में इसकी छोटी शुरुआत हो रही है।

दक्षिण भारत के तमिलनाडु में ढफली समान एक वाद्य यंत्र है। यह परई कहलाती है। दुनिया के पहले पहल वाद्य यंत्रों में से एक होगी। यह मरे हुए गौवंश की खाल से बनती है। जाहिर है कि सदियों तक यह केवल दलित समुदाय के द्वारा ही बजता था। मंदिर के सामने, सार्वजनिक त्यौहार और किसी प्रतिष्ठित की मृत्यु पर बजता था। उन्हें तिरस्कार के साथ परिया कहते थे और वाद्य यंत्र परई कहलाया। उस समुदाय का मुख्य गांव में प्रवेश नहीं था। वे मंदिर की सोड़ी नहीं चढ़ सकते थे। सार्वजनिक कुएं का प्रयोग नहीं कर सकते थे।

रेसिस्टेंस या प्रतिरोध हकीकत की कोख से उपजे तो हक्क की लड़ाई में तब्दील होता है। वही सत्याग्रह है। यह अधिकार से विराट है। बिना अभ्यास के संभव नहीं



उनकी शव यात्रा भी मुख्य गांव से नहीं गुजर सकती थी। आज भी कमोबेश यही परिस्थिति है। हालांकि अब वह कानूनी जुर्म है।

कई सुधारकों, जनवादी संगठनों ने परई का प्रयोग प्रतिरोध के लिए करना आरंभ किया है। मगर राजनीतिक हलकों में अब भी नहीं इस्तेमाल होता।

गोयांकि इस शिविर में सभी क्षेत्र जाति धर्म वर्ग की महिलाएं सहभाग कर रही थीं। परई सिखाने वाली अभ्यर्थी दलित समुदाय की क्रांतिकारी साथी है। तमिल भाषी है। शिविर में अधिकांश साथी तमिल बिल्कुल नहीं समझते थे। सो भाषाई विघ्न था। फिर परई देखकर खुसुर-फुसुर शुरू हुई। खाल गौवंश की है तो कैसे हाथ लगाए। वह तो अशुद्ध होता है। हर महीने तीन दिन खुद अशुद्धता का लेबल लगाने के लिए मजबूर स्त्री भी सदैव अशुद्ध माने जाते हाशिये पर खड़े समुदाय के प्रति विन अभ्यास संवेदनशील

तमिलनाडु में ढफली जैसे इस वाद्य यंत्र परई को लोक कलाकारों ने विरोध के औजार के रूप में अपनाता शुरू किया है। चरखा फिर बन रहा प्रतिरोध का जरिया

नहीं होती। दो दिन बहाने चले। हाथ में तकलीफ है, कैसे इतना भारी यंत्र पकड़े। फिर दलित स्त्री से कुछ सीखना भी जाति प्राधन्य समाज के लिए सहज नहीं था। सिखाने वाली साथी पूरे स्नेह, सन्न से बस बजाती रही। तीसरे दिन परई की कहानी वीडियो द्वारा देखने के बाद कुछ पिघलने लगा। उसी दिन देवदासी स्त्रियों से बातचीत हुई। तमाम अशुद्धि के बोध आंसू बनकर बह चले। हृदय शुद्ध हो गया। उस शाम सबने परई उठाई और मैदान गुंज उठा। सबने दो कदम नृत्य के भी बोल सीखे। जैसे एक भेद से जूझते समूह ने दूसरे समूह को थामा हो। सिखाने वाली साथी को उस दिन कोई भाषाई अड़चन महसूस नहीं हुई। परई ने अपनी एक भाषा ढूंढ ली थी। वह भाषा से परे हो गई।

सिखाने वाली अभ्यर्थी ने कहा कि आज जब सहभागी महिलाओं ने परई को दोनों हाथों से थामा, उसे लगा जैसे सदियों के भेद को धकेलकर गले लगाया हो। उसे अंगीकार किया हो। उस दिन सबकी आंखें नमती रहीं। भेद, बोध बहता रहा। फिर कर्नाटक के लोक गायक ने गीत गाया- “ कट्टुतेवा” माने भीतर की गुलामी डर को ललकारो, आओ कुछ निडर बनाएं। निडरता प्रेम से जगती है। वही शाश्वत प्रतिरोध है। बहरहाल प्रतिरोध की नई तहजीब पक रही है। अभ्यास बन रहा है।

दुनिया के सबसे ताकतवर मुल्क का ढाई सौवां मना। मगर वह आज़ाद कहाँ? ढाई आखर प्रेम बिना। यह प्रेम राजनीति में फिर आ रहा है, मुहब्बत की दुकान बन रही है। प्रतिरोध के अभ्यास में। ■

भारतीय ज्ञान परंपरा, विज्ञान और शिक्षा का संकट

समस्या तब उत्पन्न होती है जब इतिहास, दर्शन और सांस्कृतिक विश्वासों को विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगता है

रेलेन्द्र घौहान

भारत की शिक्षा व्यवस्था इन दिनों एक महत्वपूर्ण वैचारिक बहस के दौर से गुजर रही है। एक ओर यह आग्रह है कि शिक्षा को भारतीय ज्ञान परंपरा, स्थानीय बौद्धिक विरासत और स्वदेशी चिंतन से जोड़ा जाए; दूसरी ओर यह चिंता भी व्यक्त की जा रही है कि इस प्रक्रिया में कहीं विज्ञान, तर्क और आलोचनात्मक विवेक की जगह आस्था, मिथक और धार्मिक विश्वासों को तो संस्थागत मान्यता नहीं दी जा रही। हाल में कुछ भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों (आईआईटी) में पुनर्जन्म, चेतना और तथाकथित र्वैदिक विज्ञान- जैसे विषयों पर आयोजित कार्यक्रमों ने इस बहस को और तीखा कर दिया है।

यह केवल किसी एक सेमिनार या कार्यक्रम का नहीं है। यह उस दिशा का प्रश्न है जिसमें देश की उच्च शिक्षा और वैज्ञानिक संस्कृति को ले जाया जा रहा है। भारतीय ज्ञान परंपरा का अर्थ क्या है? यदि हम ईमानदारी से देखें तो भारत की बौद्धिक विरासत अत्यंत समृद्ध रही है। पाणिनि का व्याकरण, न्याय और वैशेषिक का तर्कशास्त्र, बौद्ध दर्शन की विश्लेषणात्मक परंपरा, आर्यभट्ट और भास्कर की गणितीय उपलब्धियां, सुश्रुत और चरक का चिकित्साशास्त्र, धातुकर्म और स्थापत्य के विविध रूप—ये सब भारतीय ज्ञान की गौरवशाली उपलब्धियां हैं। इनका अध्ययन, पुनर्पाठ और समकालीन संदर्भों में मूल्यांकन न केवल आवश्यक है बल्कि देर से उठाया गया कदम भी कहा जा सकता है।

लेकिन समस्या तब उत्पन्न होती है जब इतिहास, दर्शन और सांस्कृतिक विश्वासों को विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगता है। विज्ञान केवल किसी दावे का नाम नहीं है। वह एक पद्धति है—परिकल्पना, परीक्षण, प्रमाण, पुनरुत्पादन और आलोचनात्मक समीक्षा की पद्धति। विज्ञान का कोई भी निष्कर्ष तब तक स्वीकार्य नहीं होता जब तक वह स्वतंत्र रूप से सत्यापित न हो सके।

यदि कोई यह दावा करे कि पुनर्जन्म को ईईजी, ज्योतिषीय कुंडलियों या बच्चों की स्मृतियों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है, तो यह दावा वैज्ञानिक कसौटी पर परखा जाना चाहिए। लेकिन जब परीक्षण की प्रक्रिया ही पूर्वाग्रहों से भरी हो, नमूना अत्यंत सीमित हो और निष्कर्ष पहले से तय हों, तब वह शोध नहीं बल्कि विश्वास की पुष्टि का प्रयास बन जाता है। यही वह बिंदु है जहां शिक्षा और प्रचार के बीच की



शिक्षा का उद्देश्य जिज्ञासा को प्रोत्साहित करना होता है, विश्वासों की पुष्टिसिंग करना नहीं। इसे भूलने पर विज्ञान कमजोर होगा और भारतीय ज्ञान परंपरा की गरिमा नष्ट होगी

रेखा धुंधली होने लगती है।

दुनिया के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की प्रतिष्ठा इस बात पर आधारित है कि वे किसी भी विचार को केवल इसलिए स्वीकार नहीं करते क्योंकि वह लोकप्रिय, प्राचीन या सांस्कृतिक रूप से प्रिय है। वे उसे प्रमाणों की कसौटी पर परखते हैं। विज्ञान का इतिहास बताता है कि उसने स्वयं अपने अनेक पुराने निष्कर्षों को भी गलत साबित किया है। यही उसकी शक्ति है। विज्ञान किसी सत्य का संरक्षक नहीं बल्कि सत्य की खोज की प्रक्रिया है।

विडंबना यह है कि भारतीय परंपरा के अनेक महान चिंतक भी इसी आलोचनात्मक दृष्टि के पक्षधर थे। बुद्ध ने किसी बात को केवल परंपरा के आधार पर स्वीकार करने से मना किया था। चार्वाकों ने वेदों तक

जब कुछ संस्थान मिथकीय या आध्यात्मिक अवधारणाओं को वैज्ञानिक मान्यता देने की कोशिश करते दिखाई देते हैं, तो यह भारतीय परंपरा की रक्षा नहीं बल्कि उसके साथ अन्याय है

को चुनौती दी। न्याय दर्शन ने तर्क और प्रमाण को सर्वोच्च महत्व दिया। अर्थात् भारतीय बौद्धिक परंपरा का सबसे मूल्यवान तत्व उसका प्रश्नाकुल स्वभाव था, न कि अंध स्वीकृति। आज जब कुछ संस्थान मिथकीय या आध्यात्मिक अवधारणाओं को वैज्ञानिक मान्यता देने की कोशिश करते दिखाई देते हैं, तो यह भारतीय परंपरा की रक्षा नहीं बल्कि उसके साथ अन्याय है। क्योंकि इससे वास्तविक उपलब्धियां भी संदेह के घेरे में आ जाती हैं। इस प्रक्रिया का एक राजनीतिक आयाम भी है। पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में रसभ्यतागत पुनर्जागरण की भाषा का व्यापक उपयोग हुआ है। इसमें कोई बुराई नहीं कि कोई समाज अपनी सांस्कृतिक जड़ों को समझना चाहे। लेकिन जब

शिक्षा का उद्देश्य जिज्ञासा को प्रोत्साहित करना है, विश्वासों की पुष्टिसिंग करना नहीं। विश्वविद्यालयों का काम प्रश्न पैदा करना है, पूर्वनिर्धारित उत्तरों की पुष्टि करना नहीं। यदि हम इस बुनियादी अंतर को भूल जाते हैं तो न केवल विज्ञान कमजोर होगा, बल्कि भारतीय ज्ञान परंपरा की वास्तविक गरिमा भी नष्ट हो जाएगी। भारत को ऐसे विश्वविद्यालय चाहिए जो अपने अतीत को समझें, वर्तमान से संवाद करें और भविष्य का निर्माण करें। लेकिन यह तभी संभव है जब ज्ञान का आधार तर्क, प्रमाण और बौद्धिक स्वतंत्रता हो। अन्यथा हम विज्ञान की भाषा में आस्था का प्रचार तो कर सकते हैं, ज्ञान का सृजन नहीं। ■



दूल्हे का बासिंगा और शोला शिल्प की दुनिया

कर्नाटक के गुडिगार समुदाय ने मलनाड क्षेत्र में विवाहों के लिए सिर के अलंकरण बनाने की कला को जीवित रखा है

रिमाता तुमुलुट्ट

दिनेश एम. गुडिगार लगभग एक फुट लंबे चाकू से शोला (सोलावुड) की नरम गूदेदार लकड़ी के उस छोटे-से टुकड़े पर बड़ी कुशलता से कट लगाते हैं, एक धागे को खींचते हैं और देखते ही देखते उनके हाथों में मानो जादू से एक फूल खिल उठता है।

तजुबेकार शिल्पकार दिनेश शोला से निर्मित उन नाजुक चीजों के नाम गिनाते हैं जिन्हें वह विवाह और त्योहारों के लिए बनाकर बेचते हैं। इन्हें बासिंगा, तोंडलु, हूविना कोलु, गरिदोंडु, बेंडिना हारा कहते हैं।

दिनेश बासिंगा बना रहे हैं- यानी शोला से बना सजावटी सेहरा, जिसे कर्नाटक के कुछ समुदायों में दूल्हा पहनता है। समुदाय और परिवार की परंपरा के अनुसार बासिंगा कभी सिर्फ माथे पर बांधी जाने वाली एक साधारण पट्टी सा होता है, तो कभी पेटा (पगड़ी) से जुड़ा हुआ। कुछ बासिंगा 12 इंच ऊंचे, मुकुटनुमा भव्य रूप में भी बनाए जाते हैं।

पहले बासिंगा और भी बड़ा होता था, कभी-कभी एक फुट या कुछ ज्यादा ऊंचा भी। शोला कलाकार संंध्या अन्नप्पा याद करती हैं, “हमारे घरों के दरवाजों की चौखटे छोटी होती थीं और मान्यता थी कि बासिंगा चौखट से टकराना नहीं चाहिए। इसलिए दूल्हे को दुल्हन के घर में प्रवेश करते समय सिर झुकाकर अंदर जाना पड़ता था।”

दूल्हे के बासिंगा के साथ दुल्हन का तोंडलु भी होता है, जिसे कुछ समुदायों में बुड़ी बासिंगा भी कहते हैं। कटोरे के आकार का तोंडलु माथे पर पहना जाता है, जिसके पीछे शोला के फूलों की मोटी लड़ी लगी रहती है। पगड़ी से जुड़ा साधारण बासिंगा बनाने में एक दिन लगता है, जबकि जिस भव्य बासिंगा पर दिनेश काम कर रहे हैं, उसे पूरा करने में दो से तीन दिन लग जाते हैं।

सबसे पहले वह शोला के गूदे के छोटे-छोटे बेलनाकार टुकड़े काटते हैं और उनकी छाल उतारते हैं। फिर उसी चाकू से उन्हें इस तरह चीरते हैं कि अलग-अलग मोटाई की, दांतदार या लहरदार किनारों वाली पतली पट्टियां खुल जाएं। इन पट्टियों को मोड़कर और आकार देकर वह मैदे से बने घरेलू गोंद की सहायता से मजबूत कागज के ढांचे पर चिपकाते हैं। इस गोंद में एक स्थानीय औषधि भी मिलाई जाती है, ताकि कीड़े-मकोड़े और चूहे उससे दूर रहें। कुछ

कारीगर कृत्रिम रबर वाले गोंद का भी उपयोग करते हैं। अपनी फुर्तीली उंगलियों से दिनेश गुलदाउदी और गेंदे के फूल बनाते हैं और बारीक, सुई जैसी लकड़ी की कांटियों की मदद से उन्हें बासिंगा के ऊपरी भाग में लगा देते हैं। उन्हें इतनी महारत से चाकू चलाते कोई भूल सकता है कि जरा-सी चूक कारीगर को गंभीर रूप से घायल भी कर सकती है।

यह मिलाजुला काम है। दिनेश बासिंगा का ढांचा तैयार करते हैं और उनकी 48 वर्षीय पत्नी विनया उसे रंग-बिरंगे कांच के मनकों, चमकीले सितारे, सुनहरी जरी की लेस, मनकों और शोला के फूलों से बने झूमरों से सजाती हैं।

दुकान के दरवाजे पर विनया द्वारा बनाया गया मोगिना जड़े टंगा है। यह दुल्हन की चौटी के लिए एक आकर्षक केशभूषण है, जिसमें शोला से बनी सैकड़ों छोटी-छोटी चमेली की कलियां या मोगु और उनके बीच गुलाब के फूल लगे होते हैं।

कौशिक कहते हैं, “हम वही बनाने की कोशिश करते हैं जो मेरे दादा-परदादा बनाया करते थे। कुछ वर्ष पहले तक कांच के मोती और पत्थर मुंबई से आते थे, लेकिन अब उनका उत्पादन बंद हो गया है।” अब ये मोती, पत्थर और अन्य सजावटी सामग्री हबली शहर से मंगाई जाती है।

सोरबा के गुडिगार परिवार से आने वाली 49 वर्षीय संंध्या बताती हैं, “पहले शादियां रात में होती थीं। इसलिए बासिंगा को पलपला रत्न (चमचमाते रत्नों) की तरह जगमगाना जरूरी था।” यही कारण है कि उसमें कांच के मनकों का प्रयोग होता है।

*

दिनेश (49) ने सातवों कक्षा के बाद पढ़ाई छोड़ दी थी, ताकि पिता मधुसूदन गुडिगार (अब दिवंगत) के साथ काम कर सकें। मधुसूदन अपने समुदाय के अत्यंत सम्मानित शिल्पकार थे। गुडिगार समुदाय के लोग कभी मैसूर के राजपरिवार के संरक्षण में चंदन की लकड़ी पर नक्काशी किया करते थे। उनका मूल निवास गोवा माना जाता है, लेकिन आज वह मुख्यतः शिवमोग्गा जिले के सोरबा और सागर तालुकों तथा उत्तर कन्नड़ जिले के सिरसी और कुमटा तालुकाओं में बसे हुए हैं।

टाइलों वाले अपने पुरतैनी घर के सामने वाले कमरे की अपनी दुकान में बैठे दिनेश कहते हैं, “यहां मेरे अज्जा

रमणी फोटो: रिमाता तुमुलुट्ट



कर्नाटक के कुछ समुदायों में शादी के मौके पर दूल्हा जो सजावटी सेहरा सिर पर धारण करता है, उसे बासिंगा कहते हैं। उत्तर भारत के कुछ इलाकों में इसे मोर या मउर भी कहा जाता है

(दादा) भी काम किया करते थे।” तालगुप्पा एक सुंदर गांव है, जहां चारों ओर हरे-भरे खेत हैं और धान तथा सुपारी की खेती यहां की प्रमुख आजीविका है। यह कर्नाटक के शिवमोग्गा जिले के प्रसिद्ध जोग जलप्रपात से लगभग 14 किलोमीटर दूर स्थित है।

आज सोला-शिल्प बनाने वाले कारीगर बहुत कम रह गए हैं। जिस सागर क्षेत्र में दिनेश रहते हैं, वहां कर्नाटक राज्य हस्तशिल्प विकास निगम (केएसएचडीसी) द्वारा संचालित सैंडलवुड क्राफ्ट कॉम्प्लेक्स में चंदन-शिल्प के लगभग 200 पंजीकृत कारीगर हैं, लेकिन उनमें सोला-शिल्प का काम करने वाले लोग दस से भी कम हैं।

शिवमोग्गा स्थित सैंडलवुड क्राफ्ट कॉम्प्लेक्स के परियोजना अधिकारी पी. गणेश सिंह के अनुसार, सोला से बनी वस्तुओं का बाजार लगातार कम होता जा रहा है। शहरीकरण ने सामाजिक परंपराओं के साथ लोगों की रुचियों भी बदल दी है।

सोला/शोला लकड़ी (ऐशिनोमीन ऐस्पेरा) लंबे तनों वाला एक पौधा है, जो दलदली, जलभराव वाले क्षेत्रों तथा झीलों और तालाबों के किनारों पर उगता है। इसकी ऊंचाई लगभग 8 से 10 फुट तक होती है। इसकी जड़ें जलाशय की तलहटी में जमी रहती हैं, जबकि पत्तियां और फूल पानी की सतह के ऊपर निकलते हैं। स्थानीय भाषा में सोला लकड़ी को ‘बेंडु’ कहते हैं।

सोला लकड़ी के तनों की कटाई सितंबर-अक्तूबर में, दीपावली के आसपास की जाती है। इन्हें 15-25 तनों के गट्टरों में बेचा जाता है। प्रत्येक तना लगभग 2-3 फुट लंबा होता है और एक गट्टर की कीमत 2,000 से 3,000 रुपये के बीच होती है। परिवार अक्सर पूरे साल के लिए आवश्यक माल एक साथ खरीदकर रख लेता है।

संध्या, जिन्होंने यह शिल्प अपने ससुर से सीखा, बताती हैं, “कीमत इस बात पर निर्भर करती है कि तना कितना मुलायम है, उसकी लंबाई और मोटाई कितनी है- एक, दो या तीन इंच। एक अच्छा बासिंगा बनाने के लिए कम-से-कम पांच-छह तनों की जरूरत पड़ती है।”

दिनेश हर वर्ष लगभग 50,000 रुपये का कच्चा माल खरीदते हैं, जिसमें से करीब 20,000 रुपये केवल बेंडु पर खर्च होते हैं। वह इसे “बयलु सीमे” क्षेत्र से मंगाते हैं- जैसे तडस, मुंडगोड और कलघट्टी। यह कर्नाटक का वह इलाका है जो मलनाड के पूर्व में दक्कन के पठार के मैदानी भाग में फैला है, जहां की जलवायु और मिट्टी सोला लकड़ी उगाने के लिए अधिक उपयुक्त है।

संध्या को अपेक्षाकृत कम मात्रा में कच्चे माल की जरूरत होती है, इसलिए वह इसे आसपास के गांवों से ही ले लेती हैं। मलनाड में फरवरी से मई तक का समय विवाहों का मौसम होता है और यही इन कारीगरों के लिए सबसे व्यस्त अवधि भी। इस एक मौसम में दिनेश के परिवार को लगभग 150-200 ऑर्डर मिलते हैं। एक सामान्य विवाह पैकेज में दूल्हा-दुल्हन के लिए बासिंगा की एक जोड़ी, तीन लड़ियों वाली मालाएं, सफेद फूलों की माला, फूलों की सामान्य सजावट तथा हाथ में धारण किया जाने वाला एक आभूषण शामिल होता है। डिजाइन के अनुसार इसकी कीमत 1,500 से 4,000 रुपये तक होती है।

दिनेश गर्व से कहते हैं, “हमें बेंगलुरु से भी ऑर्डर मिलते हैं।” बातचीत के दौरान ही कुछ संभावित ग्राहक आते हैं और

वे उन्हें डिजाइनों वाला एक फोटो एल्बम दिखाते हैं, ताकि वे अपनी पसंद का बासिंगा चुन सकें।

संध्या का परिवार, जो चंदन की लकड़ी की नक्काशी का भी काम करता है, वर्ष भर में बेंडु से बनी वस्तुओं के केवल 5 से 25 ऑर्डर ही प्राप्त करता है। संध्या हंसते हुए कहती हैं, “अब लोगों को साधारण बासिंगा पसंद आते हैं। पहले एक बासिंगा बनाने में जितना सामान लगता था, अब उतने में पांच बन जाते हैं।”

बासिंगा बनाना मौसमी काम है। जून में वर्षा शुरू होते ही विवाहों का मौसम समाप्त हो जाता है और ऑर्डर लगभग बंद हो जाते हैं। तब गुडिगार परिवार आय के दूसरे साधन तलाशते हैं, जैसे गणेश चतुर्थी के लिए मिट्टी की प्रतिमाएं बनाना। मंदिरों की लकड़ी की प्रतिमाओं की मरम्मत और रंग-रोगन भी उनकी आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। गांव के बड़े उन्सवों से पहले भंडार से निकाली गई प्रतिमाओं को फिर से रंगने के लिए इन्हीं कारीगरों को बुलाया जाता है।

दिनेश की सहायता उनका बेटा कौशिक करता है। उसे यह शिल्प पसंद है, लेकिन वह अभी तय नहीं कर पाया है कि इसे ही अपना पेशा बनाए या अपनी बड़ी बहन की तरह बेंगलुरु जाकर किसी सॉफ्टवेयर कंपनी में नौकरी करे।

दूसरी ओर, संध्या चाहती ही नहीं कि उनके बच्चे इस पारिवारिक पेशे में आएँ। उनका कहना है कि बेंडु शिल्प की मांग लगातार घट रही है और अब इससे पहले जैसी आमदनी नहीं होती। लेकिन शकुंतला नए प्रयोग करने से पीछे नहीं हटती। उन्होंने विवाहों से आगे बढ़कर सोला लकड़ी से भरतनाट्यम नृत्यांगनाओं के लिए बालों में पहनने की वेणियां और फूलों का मुकुट बनाना शुरू किया है। वह सुगौी कुनिता नामक फसल कटाई के लोकनृत्य के लिए सुगौी तुराई भी तैयार करती हैं- यह फूलों के बड़े गुलदस्ते जैसा माथे का एक विशेष आभूषण होता है। वह कहती हैं, “चमेली के ये फूल बनाना बहुत कौशल का काम है। यह जानना पड़ता है कि कहां काटना है, कहां मोड़ना है। हर कोई यह काम नहीं कर सकता।”

प्रखंड विकास कार्यालय या राज्य के उद्योग विभाग के बुलावे पर शकुंतला युवा लड़कियों को इस शिल्प का प्रशिक्षण देने जाती हैं। अपने काम के लिए वह अनेक पुरस्कार प्राप्त कर चुकी हैं। उन्हें विशेष गर्व उस पुरस्कार पर है जो उन्होंने वर्षों पहले करावली कला उत्सव में केवल एक साधारण शेविंग ब्लेड की सहायता से बासिंगा बनाकर जीता था। दूसरा पुरस्कार उन्हें ‘रेशमे गुडिन हारा’ के लिए मिला। यह बेंडु से बनी ऐसी माला है जो देखने में रेशम के कोकून जैसी लगती है।

वह कहती हैं, “गांवों में बासिंगा के बिना कोई विवाह नहीं होता। हमारा अस्तित्व उसी से है। बासिंगा ही वह आधार है जो पूरे साल हमारा गुजारा चलाता है, लेकिन बेंडु बहुउपयोगी है। बासिंगा ही नहीं, इससे न जाने कितनी चीजें बनाई जा सकती हैं।” ■

इस रिपोर्ट में प्रयुक्त कुछ तस्वीरें तथा कहानी का एक हिस्सा बेंगलुरु स्थित गैर-लाभकारी संस्था सेंटर फॉर रीवाइवल ऑफ़ इंडिग्नस आर्ट द्वारा संचालित पितारा कला संरक्षण परियोजना के अंतर्गत प्रत्येष्ठित सामग्री पर आधारित है। स्रोत: ruralindiaonline.org



शिवमोग्गा ज़िले के तालगुप्पा गांव की अपनी दुकान में शोला-शिल्प पर काम करते दिनेश गुडिगार । उनके इस काम में बेटा कौशिक (पीछे) भी हाथ बंटता है । इसकी पूरी प्रक्रिया खासी मेहनत मांगती है । शोला के तने की पूरी छाल उतारकर उसका सफेद गूदा निकालना, फिर शोला के गूदे या नरम लकड़ी पर तन्मयता से काम करना आसान नहीं है । इसी गूदे का इस्तेमाल बासिंगा बनाने में होता है



शकुंतला कहती है, “गांवों में बासिंगा के बिना कोई विवाह नहीं होता। हमारा अस्तित्व उसी से है। बासिंगा ही वह आधार है जो पूरे साल हमारा गुजारा चलाता है, लेकिन बेंडु बहुउपयोगी है। बासिंगा ही नहीं, इससे न जाने कितनी चीजें बनाई जा सकती हैं”



नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर मुंबई के हृदयस्थल में, बीकेसी से सटे, एयरपोर्ट के पास



इन सबके लिए सर्वोत्तम:

- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशन
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है

-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे

-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे



बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258

या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051